

बी.ए. (प्रोग्राम)

द्वितीय वर्ष

फाउंडेशन कोर्स (आधार पाठ्यक्रम)
भाषा साहित्य तथा संस्कृति
अध्ययन सामग्री : 1 (1-2)
(भाषा तथा संस्कृति)



मुक्त शिक्षा विद्यालय

(मुक्त शिक्षा परिसर)

दिल्ली विश्वविद्यालय

हिन्दी - विभाग

सम्पादक : डॉ. दिनेशकुमार गुप्ता

भाषा, साहित्य तथा संस्कृति
(भाषा तथा संस्कृति)

अनुक्रम

1. भाषा

(क) भाषा और सम्प्रेषण

(i) भाषा की उपयोगिता

डॉ. कुसुम बाँठिया

(ii) भाषा कैसे कार्य करती है : वक्ता-श्रोता, संदेश

डॉ. कुसुम बाँठिया

(iii) भाषा और लेखन

डॉ. कुसुम बाँठिया

(ख) भाषा और समाज

डॉ. विभा गुप्ता

(ग) भाषा-प्रयोग

प्रो. कृष्ण कुमार गोस्वामी

(घ) भारत का भाषा वैविध्य और भाषा नीति

(i) भाषा परिवार और भारतीय भाषाएँ

प्रो. कृष्णकुमार गोस्वामी

(ii) भाषा : प्रकृति और स्वरूप

डॉ. रामप्रकाश

(iii) भाषा नीति का उद्भव और विकास

डॉ. रामप्रकाश

(iv) राजभाषा के रूप में हिन्दी : संवैधानिक रूपरेखा

डॉ. रामप्रकाश

(v) समान राजभाषा और सम्पर्क भाषा

(राष्ट्रभाषा, राजभाषा, सम्पर्कभाषा)

डॉ. दिनेशकुमार गुप्ता

(vi) द्विभाषिकता और बहुभाषिकता

प्रो. कृष्णकुमार गोस्वामी

2. समकालीन भारत में संस्कृति और जनसंचार

(i) संस्कृति के अभिप्राय और जन-संस्कृति की अवधारणा

डॉ. संजीव कुमार

(ii) संस्कृति और जन संचार माध्यम

डॉ. बलवन्त कौर

(iii) विज्ञापन और संस्कृति

डॉ. बलवन्त कौर

(iv) वैश्वीकरण और संस्कृति

डॉ. विभास वर्मा

सम्पादक :

डॉ. दिनेशकुमार गुप्ता



मुक्त शिक्षा विद्यालय

दिल्ली विश्वविद्यालय

5, कैवेलरी लेन, दिल्ली-110007

पाठ्यक्रम

भाषा, साहित्य तथा संस्कृति (Language, Literature & Culture)

3 घण्टे, 100 अंक

लक्ष्य

भौतिक, आर्थिक और राजनीतिक पर्यावरण के समान ही भाषा और साहित्य हमारे परिवेश के महत्वपूर्ण घटक हैं। इस पाठ्यक्रम से विद्यार्थियों को निम्नलिखित विषयों की जानकारी प्राप्त हो सकेगी :

- (i) भाषा कैसे कार्य करती है,
- (ii) बोल-चाल को भाषा के कुछ महत्वपूर्ण पहलू तथा भारत की बहु-भाषिकता के कारण उपजने वाले अन्य भाषायी मुद्दे
- (iii) भारतीय भाषाओं के साहित्य की वस्तु, शिल्प और शैली संबंधी विशेषताएँ तथा
- (iv) समसामयिक भारतीय संस्कृति की प्रवृत्तियाँ विशेषकर जैसी वे मीडिया में प्रतिबिंबित होती हैं।

अपेक्षा

पाठ्यक्रम को पूरा कर लेने वाले विद्यार्थियों से अपेक्षा की जाती है कि उन्हें निम्नांकित विषयों की जानकारी हो सकेगी :

- (i) भाषा के मूलभूत पक्षों की जानकारी,
- (ii) भारतीय भाषाओं तथा उनके साहित्य का सामान्य ज्ञान तथा
- (iii) समसामयिक जन प्रचलित संस्कृति में निहित मूल्यों और मान्यताओं, विशेषकर जनसंचार में इस प्रकार विद्यार्थी अपने शैक्षिक-लक्ष्यों और बहु-भाषीय समुदाय में अपनी भूमिका तलाश कर सकेंगे।

(I) भाषा

(A) भाषा और संप्रेषण :

- (1) भाषा की उपयोगिता
- (2) भाषा कैसे कार्य करती है
 - (i) वक्ता-श्रोता, संदेश
 - (ii) ध्वनि, व्याकरण, अर्थ
- (3) भाषा और लेखन

(B) भाषा और समाज :

- (i) भाषा और वर्ग
- (ii) भाषा और लिंग
- (iii) भाषा और जातीयता
- (iv) भाषा और अस्मिता

(C) भाषा-प्रयोग :

- (i) भाषा का विकास
- (ii) भाषा के विविध प्रयोग-बोली, अपभ्रष्ट बोली, मानक और अमानक भाषा

(1) भाषा
(क) भाषा और सम्प्रेषण

(i) भाषा की उपयोगिता

डॉ. कुसुम बाँठिया
पूर्व रीडर, हिंदी-विभाग
देशबंधु कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

‘भाषा’ की परिभाषा में उसे किसी समाज के सदस्यों के बीच परस्पर संपर्क तथा संवाद का माध्यम माना गया है। संपर्क और संवाद के बिना किसी समाज का अस्तित्व ही संभव नहीं है। एक यही तथ्य भाषा की उपयोगिता सिद्ध करने के लिए काफी है, किंतु भाषा का महत्त्व इतने तक ही सीमित नहीं है। **समाज के बीच संवाद-संप्रेषण भाषा का प्राथमिक और आधारभूत प्रकार्य है, मगर भाषा समाज की एक सीधी सरल रेखा में चलने वाली सपाट इकाई नहीं है।** समाज तथा इसके सदस्यों के अस्तित्व और चरित्र के अनेक आयाम होते हैं और इन सभी आयामों के संदर्भ में भाषा की विशिष्ट भूमिका होती है।

मानव के मौखिक संवाद ही नहीं, **सोच-विचार का माध्यम** भी भाषा ही होती है। गहन दार्शनिक विचारणा या चिंतन की बात छोड़ भी दें। छोटी-से-छोटी बातों या सोच के लिए भी उसे भाषा का सहारा लेना पड़ता है। जैसे बारिश की बौछार से बचने के लिए जब किसी मनुष्य का मस्तिष्क उसे किसी ओट की तलाश करने का निर्देश देता है तो वह उसके अंतर में निहित भाषा के माध्यम से ही होता है, भले ही उसे सचेत रूप से इस बात का भान न हो। मुखर रूप से भाषा की अभिव्यक्ति के पहले आदिमानव जिन स्थितियों से गुजरता रहा होगा उन्हें समझने और उनके बारे में सोचने के लिए भाषा के किसी-न-किसी प्राक् [प्राचीन] रूप की अवस्थिति अर्थ के रूप में उसके मस्तिष्क में रही होगी। उस अर्थ को वाणी देने के लिए ही **‘वाक् प्रतीक’**, और इस प्रकार मुखर भाषा अस्तित्व में आई। **अतः भाषा मात्र सामाजिक व्यवस्था नहीं, व्यक्तिगत आवश्यकता भी है। यह हमारे जीवन का अनिवार्य और अभिन्न अंग है।**

भाषा **व्यक्ति तथा समाज की पहचान भी बनाती** है। कोई व्यक्ति किस प्रकार की भाषा का-भाषा में किस प्रकार की ध्वनियों शब्दावली, रूपों आदि का प्रयोग करता है उससे व्यक्ति की भौगोलिक पृष्ठभूमि, सामाजिक स्थिति, बौद्धिक स्तर आदि ही नहीं, उसकी प्रकृति, चरित्र आदि का भी परिचय मिलता है। उदाहरण के लिए हिंदी में जब कोई ‘अ’ ध्वनि का कुछ वृत्तमुखी उच्चारण (कुछ-कुछ **ऑ** के समान) करता है तो स्पष्ट हो जाता है कि वह हिंदी क्षेत्र के पूर्वी भाग से है, लेकिन जब यही उच्चारण ‘**ऑ**’ (कुछ-कुछ **ऐ** जैसा) होता है तो वह वक्ता के हिंदी भाषी क्षेत्र के पश्चिमी भाग से होने का संकेत करता है। परिनिष्ठित उच्चारण तथा शब्दावली वक्ता के सुशिक्षित होने की संभावना जतलाते हैं। हिंदी बोलचाल में इधर अंग्रेजी शब्दों का बहुतायत से प्रयोग होने लगा है, किन्तु कोई वक्ता उन शब्दों/वाक्यांशों का सही उच्चारण करता है या नहीं, प्रस्तुत प्रसंग में उनका अर्थ सटीक और उपयुक्त होता है या नहीं, इस बात से वक्ता की बौद्धिक तथा शैक्षिक स्थिति का भी पता चलता है। **भिन्न-भिन्न भाषा बोलने वालों की बात छोड़ दें, एक ही भाषा या बोली के बोलने वालों की भाषा की व्यक्ति विशिष्ट होती है और उस व्यक्ति की अपनी पहचान भी। इसीलिए भाषा विज्ञान में भाषा का एक रूप ‘व्यक्ति बोली’ (Idiolect) भी माना गया है।**

पूरे विश्व में अनेक भाषाएँ तथा बोलियाँ हैं। भाषा अपने आप में एक अमूर्त संकल्पना है जो भिन्न-भिन्न भाषाओं (हिंदी, मराठी, जर्मन, अंग्रेजी आदि) तथा बोलियों-उपबोलियों (अवधी, बुंदेली, तुलू आदि) के माध्यम से

बाह्य जगत में व्यक्त होती है। इनमें हर भाषा/बोली/उपबोली का अपना समाज होता है, इसीलिए भाषा की भाषावैज्ञानिक परिभाषा में विशिष्ट 'भाषा-समाज' की अवधारणा पर बल दिया जाता है। भाषा उस समाज में परस्पर संवाद का माध्यम तो होती ही है, **उस समाज की रीति-नीति-प्रकृति आदि की भी परिचायक होती है।** भाषा में कौन-सी ध्वनियों का प्रयोग होता है, उसमें बलाघात या अनुतान की कैसी या कितनी भूमिका होती है आदि से लेकर उस भाषा के साहित्य की प्रकृति आदि तथ्य उस भाषा-समाज के व्यक्तित्व और चरित्र के परिचायक होते हैं। **उदाहरणार्थ, यूरोप में मुख्यतः ध्वनि-व्यवस्था के आधार पर अंग्रेज़ी, जर्मन आदि को मर्दानी (Masculine) भाषा कहा जाता है जबकि फ्रेंच, इतालवी आदि 'रोमांस' भाषाएँ और 'नारी सुलभ' (Feminine) भाषाएँ मानी जाती हैं। भाषाओं की इन विशेषताओं को इन्हें बोलनेवाले समाज की विशिष्टताओं से जोड़ा जाता है। भारत में ही देखें, पूर्व-मध्यकाल में निरंतर युद्धरत राजस्थानी क्षेत्र की भाषा 'डिंगल' में कठोर वर्णों तथा संयुक्त अक्षरों का प्रयोग भाषा को तो परुष बनाता ही है, उस समाज की युद्ध और संघर्षरत, कठिन-कठोर जीवन शैली का भी परिचय देता है। भक्तिकाल की प्रेम, शृंगार, करुणा तथा समर्पणमयी कोमल-मधुर मनोवृत्ति मुख्यतः ब्रजभाषा की कोमल, मधुर, संगीतमय ध्वनियों के माध्यम से व्यक्त हुई।**

वस्तुतः साहित्य ही नहीं, भाषा भी समाज का दर्पण होती है। विश्व में किसी युग या क्षेत्र की पहचान जिन तत्त्वों के ज़रिये बनती है, भाषा उनमें से एक प्रमुख तत्त्व है।

इसी प्रकार, भाषा को इतिहास के दस्तावेज़ के रूप में भी देखा जा सकता है। हिंदी में अंग्रेज़ी से अनेक शब्द ग्रहण किए गए हैं और अंग्रेज़ों से हमारा संपर्क अभी पुराना इतिहास भी नहीं हुआ है। किन्तु पुर्तगाली भाषा के जो अनेक शब्द (गमला, गिरजा, गोदाम, चाभी, पादरी आदि) हिंदी की शब्दावली में इतने गहरे घुल-मिल चुके हैं कि वे हमें आगत शब्द लगते ही नहीं, वे बतलाते हैं कि किसी समय पुर्तगाली लोगों तथा उनकी भाषा से भी हिंदी भाषी क्षेत्र का गहन संपर्क रहा है। सुदूर पूर्व एशिया के इंदोनेशिया और कम्पूचिया जैसे देशों की भाषाओं में संस्कृत के तत्सम तथा तद्भव शब्दों का प्रयोग प्राचीन काल में इन देशों के भारत के साथ संपर्क की गवाही देता है। मॉरीशस, गुयाना, फ़ीजी आदि देशों में हिंदी-भोजपुरी के रूपों का प्रयोग इन देशों में इस भाषा के बोलने वालों के बड़े पैमाने पर अप्रवास के तथ्य का संकेत करता है। इसी प्रकार पूर्व तथा मध्य यूरोप की रोमा आदि घुमंतू जातियों की भाषा में हिंदी के शब्दों या उनसे मिलते-जुलते अनेक शब्दों का प्रयोग दर्शाता है कि इन जातियों का उद्गम भारत का मुख्यतः हिंदी भाषी क्षेत्र रहा होगा।

भाषा की शब्दावली तथा प्रयोगों के आधार पर ऐतिहासिक घटनाओं का काल-निर्धारण भी किया जाता है। उदाहरण के लिए हिंदी की किसी रचना पर कहीं अंग्रेज़ी प्रभाव दिखाई देता है तो अवश्य ही वह रचना अंग्रेज़ों से संपर्क के बाद की होगी, आदिकाल या पूर्व-मध्यकाल की नहीं। ऐसे में उस रचना की पृष्ठभूमि या उससे जुड़ी घटनाओं का भी काल-निर्धारण हो जाता है। ऐतिहासिक अभिलेखों, दस्तावेजों आदि की भाषा उनके काल निर्धारण में बहुत सहायक होती हैं।

साहित्य किसी समाज की संस्कृति का प्रमुख पक्ष होता है और साहित्य का माध्यम भी भाषा ही होती है। लिखित साहित्य तो अपने क्षेत्र तथा समाज की संस्कृति का परिचय देता ही है, भाषा भी अपनी ध्वनियों, शब्दावली, मुहावरों आदि के ज़रिये विशिष्ट संस्कृति की पहचान स्पष्ट करती है। **भाषा मात्र शब्दार्थ नहीं होती उसके शब्द तथा अर्थ अपने बोलने वाले समाज की संस्कृति के भी वाहक होते हैं। शब्दों के परंपरा से प्राप्त अर्थों का बदलाव भी संस्कृति में आने वाले परिवर्तनों का परिचायक होता है।** उदाहरण के लिए सुभाषचन्द्र बोस के समय 'नेताजी' कहलाना व्यक्ति के सम्मानित तथा श्रद्धेय होने का, उसके गौरव का प्रतीक था, जबकि आज की राजनीति में यह शब्द किसी के प्रति व्यंग्य या हिकारत में प्रयुक्त होने लगा है। यह आज के समाज में राजनीति के पतन और जनता की बदलती मानसिकता का परिचय देता है।

सारांशतः, भाषा का प्राथमिक प्रकार्य भाषा-समाज के सदस्यों के बीच संप्रेषण तथा संवाद स्थापित करना है किन्तु इसकी उपयोगिता यहीं तक सीमित नहीं है। हमने देखा है कि ज्ञान के कितने-कितने क्षेत्रों

में भाषा अध्ययन की सामग्री तथा जानकारी उपलब्ध कराती है। भूगोल, इतिहास, समाजशास्त्र, नृतत्वशास्त्र, मनोविज्ञान, संस्कृति आदि अनेक विषयों में भाषा विचारों की प्रस्तुति तथा संप्रेषण के माध्यम की ही नहीं, अध्ययन की महत्वपूर्ण सामग्री की भी भूमिका निभाती है। भाषा के उच्चारण, शब्दावली, प्रयोगों, शैली आदि के ज़रिये बोलने वाले व्यक्ति के स्वभाव तथा चरित्रगत विशेषताओं, उसकी मानसिक अवस्था आदि का परिचय मिलता है। इसी प्रकार किसी भाषा की ध्वनि, शब्दावली, संरचना, शैली आदि से उस भाषा का व्यवहार करने वाले समाज के भूगोल, इतिहास, संस्कार, संस्कृति, मनोविज्ञान, सामाजिक संरचना आदि का परिचय भी मिलता है।

सम्भावित प्रश्न—

1. 'भाषा' की परिभाषा लिखकर उसे उदाहरणों से स्पष्ट कीजिए।
2. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—
 - (I) भाषा और समाज।
 - (II) भाषा की उपयोगिता।
 - (III) भाषा की प्रकार्य।
 - (IV) भाषा और संस्कृति।

(ii) भाषा कैसे कार्य करती है : वक्ता-श्रोता, संदेश

डॉ. कुसुम बाँठिया

समाज के स्वस्थ संचालन, संतुलन तथा विकास के लिए उसके सदस्यों का परस्पर संवाद बहुत ज़रूरी है जिसके बिना सामाजिक संबंध नहीं पनप सकते हैं और न ही समाज का अस्तित्व बना रह सकता है। यह संवाद मूलतः और मुख्यतः भाषा के माध्यम से स्थापित होता है। भाषा के जरिये ही एक व्यक्ति अपनी बात औरों तक संप्रेषित करने की चेष्टा करता है।

‘संप्रेषण’ का अर्थ है—अपनी बात औरों तक पहुंचाना, ताकि हम जो कुछ कहना या जताना चाहते हैं, वह औरों तक ज्यों-का-त्यों पहुंच जाए। जब तक समाज का एक सदस्य दूसरे सदस्य की बात को ठीक उसी आशय में न समझ सके जो बोलने वाला उस तक पहुंचाना चाहता है, तब तक संवाद संभव नहीं है। अतः संवाद के लिए संप्रेषण अपरिहार्य है।

संवाद-संप्रेषण की परिधि

संवाद केवल मानव समाज की ही नहीं, हर समाज की आवश्यकता है। हम देखते हैं कि हर प्रकार के पशु-पक्षी और जीव-जंतु तक अनेक प्रकार से परस्पर संवाद स्थापित करते हैं। चाहे वह अपनी सत्ता की घोषणा करते हुए हाथी की चिंघाड़ हो, अपनी संगिनी को रिझाने के लिए मयूर का नृत्य हो, या दो चींटियों का अपने-अपने एंटेना परस्पर जोड़कर सूचनाओं का आदान-प्रदान। **आशय का संप्रेषण होते ही ये क्रियाएं संवाद बन जाती हैं।** इन उदाहरणों से यह भी स्पष्ट होता है कि वाक् अथवा उच्चरित भाषा और लिखित भाषा के बिना भी, अर्थात् **भाषा के इतर माध्यमों से भी संवाद सम्भव है और संप्रेषण का क्षेत्र भाषा से कहीं अधिक विस्तृत है।** मानव समाज में भी मुस्कुराना, आँखें तरेरना, गर्दन हिलाना, लापरवाही से कंधे उचकाना, कॉलर उठाना, पैर पटकना आदि ऐसी अनेक क्रियाओं का उपयोग अपने मनोभाव के संप्रेषण के लिए किया जाता है और ऐसा संप्रेषण सफल होकर संवाद भी बनता है। **इसे गैर-भाषिक संवाद कहा जा सकता है।** कई संकेत प्रणालियाँ—यातायात के संकेत चिह्न, चौराहों पर लाल-हरी बत्तियों से मिलने वाले संकेत, खोपड़ी तथा हड्डियों के चित्र से बने संकेत सूचक संकेत, गाड़ियों के भोंपू, स्वस्तिक, द्वारों पर हाथ के छापे, नृत्य की मुद्राएं आदि भी कुछ-न-कुछ संप्रेषित करते हैं और **ये सभी गैर-भाषिक संवाद की श्रेणी में आते हैं।**

गैर-भाषिक संवाद के उदाहरण हमें अपने दैनिक जीवन में कदम-कदम पर मिलते हैं किन्तु मानव समाज की जटिल मनोभावनाओं, संबंधों, स्थितियों और आवश्यकताओं की संपूर्ण और समुचित अभिव्यक्ति केवल गैर-भाषिक संवादों के माध्यम से नहीं हो सकती। उसके लिए भाषा का इस्तेमाल अपरिहार्य होता है और सच तो यह है कि गैरभाषिक संकेतों में बाह्य स्तर पर भाषा का प्रयोग चाहे न हो, आभ्यंतर स्तर पर तो अर्थ के संप्रेषण के लिए भाषा की स्थिति होती ही है। मानव मुद्राओं में तो यह बिल्कुल स्पष्ट होती है। कोई छोटा बच्चा किसी बड़े व्यक्ति का ध्यान आकर्षित करके ललचाई आँखों से गुब्बारों की ओर इशारा करता है तो स्पष्ट ही उसका आशय होता है, ‘मुझे गुब्बारा दिलवा दो’। मानवेतर संकेतों में भी यही बात है। जैसे, चौराहे पर लाल बत्ती का आशय होता है, ‘रुको’। इस प्रकार, प्रच्छन्न रूप से ही सही, हर संप्रेषण के पीछे कोई अर्थ होता है।

मानव समाज में अर्थ की वाहक भाषा ही चर्चा होती है। यहाँ हम भाषिक संप्रेषण पर ही बात करेंगे।

भाषिक संप्रेषण की प्रक्रिया—भाषा एक सामाजिक तथ्य है और किसी मानव समाज के सदस्यों के बीच संप्रेषण का माध्यम। यह संप्रेषण भाषा के मौखिक रूप के जरिये भी हो सकता है और लिखित रूप के जरिये भी। मौखिक संप्रेषण में कम-से-कम दो व्यक्तियों की उपस्थिति ज़रूरी है जिनमें एक **वक्ता** होता है और एक (या

अधिक) श्रोता। संवाद या वार्तालाप के क्रम में वक्ता-श्रोता की भूमिका निरंतर बदलती रहती है, अर्थात् जो वक्ता है, वह श्रोता बन जाता है और यह क्रम निरंतर चलता रहता है। व्यक्तियों के बीच बातचीत आदि के माध्यम से इस संप्रेषण को हम लगातार देखते सुनते रहते हैं, **लेकिन यह प्रक्रिया 'एक ने कहा, दूसरे या औरों ने सुना' तक ही सीमित नहीं है जैसा कि सतही तौर पर नज़र आता है। भाषा और अभिव्यक्ति की प्रक्रिया इससे कुछ जटिल है और इस पर फर्दिनांद द सस्यूर, ब्लूमफील्ड आदि जैसे कई भाषाशास्त्रियों ने विस्तार से विचार किया है।**

वक्ता के कथन से लेकर श्रोता के समझने तक संप्रेषण की प्रक्रिया के कई चरण होते हैं। इस प्रक्रिया को समझने के लिए पहले यह याद रखना आवश्यक है कि भाषा मूलतः ध्वनि प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। ये ध्वनि प्रतीक एक प्रकार का 'कोड' होते हैं जो किसी वस्तु, विचार, भाव, स्थिति या क्रिया के लिए प्रयुक्त होते हैं। हर भाषा के अपने ध्वनि प्रतीक या कोड व्यवस्था होती है। संप्रेषण की प्रक्रिया में वक्ता इस कोड के माध्यम से ही अपनी बात श्रोता तक पहुँचाता है। इसे एक उदाहरण द्वारा समझें। पक्षी विशेष के लिए हिंदी में 'कबूतर' ध्वनि समूह को कोड के रूप में निश्चित कर लिया गया है। उसके पंख फड़फड़ाकर ज़मीन से ऊपर उठ जाने की क्रिया के लिए कोड है 'उड़ना'। इस क्रिया की प्रकृति, काल, पक्ष आदि का निर्देश करने के लिए भी व्याकरण द्वारा कोड निर्धारिक है। जब वक्ता किसी कबूतर को उड़ते देखता है और इस तथ्य को किसी श्रोता तक संप्रेषित करता है तो यह सहज-सी लगने वाली प्रक्रिया काफी जटिल होती है और इसके कई चरण होते हैं—

1. वह पक्षी विशेष को उड़ते देखता है तो उसका मस्तिष्क सबसे पहले उस पक्षी और उसकी क्रिया का कोड ढूँढ़ता है जो क्रमशः 'कबूतर' और 'उड़ना' है। बाह्य जगत के इन वस्तु और व्यापारों का अर्थ उसके मस्तिष्क में है। अब वह इस अर्थ को अपने मस्तिष्क में ध्वनि प्रतीकों में बदलता है, अर्थात् वह अर्थ से शब्द तक आता है।
2. इन शब्दों को भाषा के व्याकरणिक नियमों में ढालकर वह वाक्य—अर्थात् भेजे जाने वाले संदेश—की रचना करता है। यहाँ तक यह प्रक्रिया मानसिक स्तर पर ही चलती है।
3. इस विश्लेषण-संश्लेषण के बाद उच्चारण के निर्देश के साथ मस्तिष्क यह संदेश वक्ता के उच्चारण अवयवों (मुँह, गला, दाँत होंठ आदि अंग जो फेफड़ों से बाहर आने वाली हवा को ध्वनि में बदलने में सहायता करते हैं) को भेजता है।
4. वक्ता वाक्य का उच्चारण करता है—'कबूतर उड़ा'। यह संदेश के प्रेषण (भेजने) का चरण है।
5. ध्वनि तरंगें इस संदेश को श्रोता के श्रवण अवयवों तक पहुँचाती हैं। इसे संदेश का संवहन कहा जाता है।
6. श्रवण अवयवों के माध्यम से यह कोडबद्ध संदेश श्रोता के मस्तिष्क तक पहुँचता है। यह संदेश ग्रहण है जिसमें श्रोता केवल कोडबद्ध ध्वनियाँ ग्रहण करता है।
7. मस्तिष्क श्रोता को इन ध्वनि समूहों के विकोडीकरण का निर्देश देता है।
8. श्रोता इस संदेश का विकोडीकरण करता है। अर्थात् वह ध्वनि प्रतीकों को उनसे जुड़े अर्थ में बदलता है। दिए हुए प्रसंग में समझें तो श्रोता ध्वनि समूह 'कबूतर' को उस पक्षी विशेष से जोड़ता है और 'उड़ा' को क्रिया विशेष से। इस प्रकार कोड से अर्थ तक पहुँचकर वह उस आशय को पा लेता है जो वक्ता का अभीष्ट था और संप्रेषण पूर्ण हो जाता है। इसके लिए वक्ता और श्रोता का कोड समान होना चाहिए, अर्थात् दोनों को ही प्रयुक्त भाषा की जानकारी होनी चाहिए।

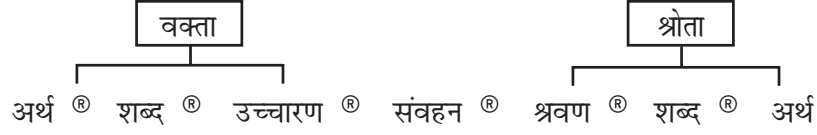
इस प्रक्रिया के एक सिरे पर वक्ता है और दूसरे सिरे पर श्रोता। इसे निम्नलिखित सूत्र के रूप में देखा जा सकता है—

वक्ता अर्थ[®] कोडीकरण (शब्द)[®] संदेश निर्मिति[®] उच्चारण अवयवों को मस्तिष्क का निर्देश[®]

उच्चारण-प्रेषण[®] संवहन[®] श्रोता द्वारा ध्वनि ग्रहण[®] मस्तिष्क द्वारा विकोडीकरण का निर्देश[®]

विकोडीकरण (शब्द)[®] शब्दार्थ ग्रहण **श्रोता**

और भी संक्षेप में :



संप्रेष्य कथन चाहे अत्यंत जटिल हो चाहे बिल्कुल ही सामान्य, संप्रेषण या संदेश ग्रहण की प्रक्रिया इन तमाम चरणों से गुजरती ही है। इनमें से एक भी चरण छूट जाए तो संप्रेषण नहीं होगा।

भाषिक संप्रेषण के संदर्भ

सभी सामान्य मानवों में बोलने और सुनने की क्षमता होती है, किन्तु एक के बोलने और दूसरे के सुनने मात्र से संप्रेषण की क्रिया पूरी नहीं होती। समुचित संप्रेषण के लिए कुछ और बातें भी आवश्यक हैं।

कोड की समानता

भाषिक संप्रेषण की प्रक्रिया तभी सफल होगी जब वक्ता तथा श्रोता के कोड समान हों—अर्थात् दोनों की भाषा एक-सी हो। यदि श्रोता को उस भाषा का ज्ञान न हुआ तो उसके लिए वक्ता की बात का कोई अर्थ नहीं होगा। वे बातें उसके लिए निरर्थक ध्वनियाँ मात्र होंगी क्योंकि वह उनका विकोडीकरण नहीं कर सकता—उन्हें सार्थक शब्दों में नहीं बदल सकता। उदाहरणार्थ, वक्ता यदि फ्रेंच में बात कर रहा है और हिंदी भाषी श्रोता को उस भाषा का ज्ञान नहीं है तो वह फ्रेंच ध्वनि प्रतीकों/ शब्दों के अर्थ में विकोडीकरण नहीं कर सकता और वहाँ संप्रेषण नहीं हो सकता।

कई बार एक भाषा-परिवार की भिन्न-भिन्न भाषाओं में शब्दार्थ-साम्य के कारण कुछ हद तक संप्रेषण संभव है, किन्तु कभी-कभी एक ही शब्द इन भाषाओं में भिन्न-भिन्न अर्थ देता है। ऐसी स्थिति में भी सही संप्रेषण नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए बांग्ला में 'ठाकुर' का अर्थ 'ईश्वर', 'ब्राह्मण' या 'रसोइया' है, किन्तु हिन्दी के पश्चिमी क्षेत्र में 'ठाकुर' का प्रयोग 'क्षत्रिय' या 'राजपूत' के लिए होता है। ऐसे में बांग्लाभाषी यदि किसी व्यक्ति का परिचय 'ठाकुर' के रूप में दे तो पश्चिमी क्षेत्र का हिंदी भाषी उसे बांग्ला वाले अर्थ में नहीं लेगा। यह कोड की भिन्नता के कारण है। **अतः संप्रेषण की पहली शर्त वक्ता-श्रोता के कोड की समानता है।**

यहाँ इस बात पर भी ध्यान दें कि संप्रेषण के लिए कोड का अर्थ एक संपूर्ण रूप से शुद्ध, अमिश्रित भाषा होना ज़रूरी नहीं है बल्कि अन्य भाषाओं/ बोलियों/ शैलियों आदि के तत्त्वों से युक्त भाषा भी तब कोड का दर्जा पा लेती है जब उसे वक्ता तथा श्रोता—दोनों एक ही अर्थ में ग्रहण करें। इसलिए जब कोई वक्ता कहता है—

‘मेरे ब्रदर संडे को आ रहे हैं।’

—और हिंदी भाषी श्रोता जानता है कि 'ब्रदर' का अर्थ 'भाई' और 'संडे' का अर्थ 'रविवार' है तो कोड के इस प्रकार के मिश्रण के बावजूद संप्रेषण हो जाता है क्योंकि मिश्रित होने के बावजूद वक्ता-श्रोता के कोड समान हैं।

सामाजिक संदर्भ

यह कहा जा चुका है कि ध्वनि प्रतीकों/ शब्दों के अर्थ होते हैं जिन्हें समझने से संप्रेषण हो जाता है। किन्तु यहाँ यह ध्यान रखना ज़रूरी है कि संप्रेषण के लिए केवल शब्दार्थ का ज्ञान काफी नहीं है बल्कि यह जानना भी ज़रूरी है कि भिन्न सामाजिक सन्दर्भों में एक ही शब्द भिन्न अर्थ देता है। सही अर्थ ग्रहण—अर्थात् श्रोता द्वारा वक्ता के कथन के विकोडीकरण के लिए यह जानना आवश्यक है कि स्थिति विशेष में किसी विशेष शब्द का प्रयोग किस आशय से किया गया है और उसकी प्रतिक्रिया क्या होनी चाहिए। उदाहरणार्थ हिंदी में सर्वनाम 'तू' का प्रयोग ईश्वर के लिए अपने से छोटों के लिए या अत्यंत आत्मीयों—माँ, मित्र, भाई, बहन आदि के लिए होता है। पिता, आयु या पद में बड़े किसी व्यक्ति या किसी अजनबी के लिए इस सर्वनाम का प्रयोग अपमानसूचक माना जाता है। चूँकि सही संप्रेष्य के प्रयोग की जिम्मेदारी वक्ता की भी होती है इसलिए उसे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि किसी शब्द के प्रयोग से श्रोता क्या समझेगा। श्रोता को भी संदर्भ के अनुसार ही शब्द का विकोडीकरण करना चाहिए। इसी प्रकार हिंदी में 'बेटा' शब्द का प्रयोग बड़े या बुजुर्ग लोग छोटों के लिए करते हैं, लेकिन किसी बड़े या बराबरी वाले व्यक्ति

के लिए प्रयुक्त होने पर इस शब्द का अर्थ ही बदल जाएगा। अतः सही संप्रेषण के लिए सामाजिक संदर्भ को ध्यान में रखना आवश्यक है।

लक्षण और व्यंजना

भाषा में शब्द का प्रयोग केवल अभिधा, अर्थात् सीधे-सपाट अर्थ में नहीं होता। उसमें लक्षणा, व्यंजना आदि का प्रयोग भी होता है जिसे समझे बिना सही अर्थ का ग्रहण, अर्थात् संप्रेषण नहीं होता। उदाहरणार्थ, जब कोई बच्चा माँ के पास आकर बतलाता है कि उसे भूख लगी है तो उसका आशय भूख लगने की सूचना देना मात्र नहीं होता। वह भूख मिटाने के लिए कुछ खाना चाहता है। यदि माँ शब्दार्थ के आधार पर केवल सूचना ग्रहण कर बैठ जाए तो माना जाएगा कि संप्रेषण नहीं हुआ है। जब श्रोता उच्चरित शब्दों के पीछे छिपे आशय को ग्रहण करता है, तभी संप्रेषण पूर्ण होता है। हमारे दैनिक जीवन में इस प्रकार के कई वाक्य प्रयुक्त होते रहते हैं जिनका मात्र शब्दार्थ वास्तविक स्थिति को नहीं समझाता। जैसे—

क्या आपके पास दस-दस के दो नोट होंगे?

यदि श्रोता यह नहीं समझता कि वक्ता उससे यह रकम माँग रहा है तो संप्रेषण सिद्ध नहीं होगा।

मुहावरों—कहावतों के प्रसंग में भी यह बात लागू होती है क्योंकि उनमें शब्दों का अभिधार्थ में प्रयोग नहीं होता। जैसे :

बक्स बहुत भारी है, **ज़रा हाथ लगाना।** (उठवाने में मदद करो)

नाच न जाने आँगन टेढ़ा। (उल्लिखित व्यक्ति को यह काम करना नहीं आता अतः वह स्थितियों को दोष दे रहा है) आदि।

अनेकार्थी शब्द—भाषा में कई शब्दों/अभिव्यक्तियों का प्रसंगानुसार अलग-अलग अर्थ हो जाता है। ऐसे में सही संप्रेषण के लिए श्रोता में यह विवेक होना जरूरी है कि शब्द। अभिव्यक्ति का प्रयोग किस आशय से हुआ है। जैसे—

यह आम बहुत **मीठा** है। (स्वाद में मधुर—विशेषण)

उसका स्वभाव बहुत **मीठा** है। (सौम्य, सौहार्दपूर्ण—विशेषण)

उसका गला बड़ा **मीठा** है। (मधुर, सुरीला—विशेषण)

कुछ **मीठा** हो जाए। (मीठी खाद्य वस्तु—संज्ञा)

ऐसी स्थितियों में सही संप्रेषण बात के प्रसंग को ध्यान में रखने पर ही होगा।

बलाघात तथा अनुतान—उच्चारण में ध्वनि समूह एक होने पर भी बोलते समय बलाघात या अनुतान के अंतर से अर्थ में अंतर आ जाता है जिसे समझना सही संप्रेषण के लिए जरूरी है। जैसे—

(क) तुम तो बहुत बुद्धिमान हो। (सराहना)

(ख) तुम तो बहुत बुद्धिमान हो। (व्यंग्य, निंदा)

यहाँ दूसरे वाक्य में—**मा**—ध्वनि पर न केवल बल दिया गया है बल्कि उसमें—**आ** ध्वनि को खींचकर नीचे से ऊपर ले जाया गया है। यह अनुतान इस शब्द में व्यंग्य का भाव ले आती है। इसी संदर्भ में टेलिविज़न पर आनेवाले उस विज्ञापन पर भी ध्यान दें जिसमें 'क्या सबूत है' वाक्य को अलग-अलग अर्थों में भिन्न-भिन्न अनुतान में दुहराया गया है :

(क) क्या सबूत है? (अविश्वास, प्रश्न)

(ख) क्या—आ सबू—ऊत है! (संतोष, सराहना)

विराम—बोलते समय वक्ता कहाँ और कितनी देर रुकता है, इसे समझना भी सही संप्रेषण के लिए आवश्यक है। उदाहरणार्थ :

(क) ठहरो मत, रोको उसे..... (रोकने का आदेश)

(ख) ठहरो, मत रोको उसे..... (नहीं रोकने का आदेश)

यहाँ दोनों वाक्य बिलकुल समान हैं किन्तु दोनों वाक्यों में, जैसा कि अल्पविराम के चिह्न से स्पष्ट है, विराम अलग-अलग जगहों पर है। इसी से वाक्यों का अर्थ पूर्ण रूप से विपरीत हो गया है। **इसलिए सही संदेश को समझने के लिए विरामों की स्थिति को ध्यान में रखना बहुत जरूरी है।**

सारांशतः, संप्रेषण वक्ता द्वारा अपने कथन का अर्थ श्रोता/ श्रोताओं तक पहुंचाने की क्रिया है। यह क्रिया देखने में तो बहुत जल्दी-लगभग तत्काल हो जाती है किन्तु वास्तव में इस प्रक्रिया के कई चरण हैं जिनसे होकर वक्ता द्वारा प्रयुक्त कोड का श्रोता द्वारा विकोडीकरण होता है। कथन के सही-सही अर्थ ग्रहण के लिए अनेक संदर्भों को ध्यान में रखना जरूरी है जिनमें कोड की समानता मूल संदर्भ है। इसके अतिरिक्त भी अनेक भाषिक तथा सामाजिक संदर्भों को ध्यान में रखने से ही यह प्रक्रिया पूर्ण होती है, अर्थात् वक्ता का आशय श्रोता तक सफलतापूर्वक पहुँच जाता है।

सम्भावित प्रश्न :

1. संवाद और सम्प्रेषण में भाषा की भूमिका का विवेचन कीजिए।
2. संवाद-सम्प्रेषण की परिधि और विस्तार पर टिप्पणी लिखिए।
3. भाषिक सम्प्रेषण की प्रक्रिया के विभिन्न चरणों का उल्लेख कीजिए।
4. भाषिक सम्प्रेषण की विभिन्न संदर्भों का नामोल्लेख करते हुए इनकी उपयोगिता लिखिए।
5. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—
 - (I) भाषिक संवाद और गैर भाषिक संवाद।
 - (II) ध्वनि प्रतीक (कोड)
 - (III) अनेकार्थी शब्द
 - (IV) बलाघात और अनुतान
 - (V) विराम चिह्न।
 - (VI) मुहावरे और लोकोक्तियाँ

(iii) भाषा और लेखन

डॉ. कुसुम बाँठिया

भाषा के विभिन्न रूपों और उनकी उपयोगिता पर विचार करते हुए भाषा के मौखिक और लिखित रूप की चर्चा भी अनिवार्य हो जाती है। इसलिए भाषा की विकासयात्रा, विशेषताएँ, प्रक्रिया आदि के साथ-साथ भाषा और लेखन का अतः सम्बन्ध, इसकी उपयोगिता और उतार-चढ़ाव की जानकारी किसी भी भाषा भाषी समाज के लिए आवश्यक है। भाषा के विद्यार्थी को इस संदर्भ में अनेक सूक्ष्मताओं और बदलाव से अवगत होते रहना चाहिए। ताकि वह भाषा के साथ-साथ उसमें लिखे गए साहित्य और उस समाज की संस्कृति के विकास को भली भाँति समझ सके तथा उनके पारस्परिक संबंध का आकल्पन कर सके। इन सब तथ्यों की जानकारी के लिए इस पाठ में लेखन विधि (लिपि) और भाषिक संरचना की चर्चा की जा रही है।

आज लिखित रूप के बिना भाषा की कल्पना करना भी हमारे लिए कठिन है। किसी विशेष भाषा का उल्लेख होते ही उसकी ध्वनियों, शब्दावली आदि के साथ उसके वर्णों की संकल्पना उसकी लेखन (लिपि) भी हमारे दिमाग में उभरती है, किन्तु यह सही है कि लिपि आज चाहे जितनी भी महत्वपूर्ण हो गई हो, इसका विकास भाषा में अपेक्षाकृत देर से हुआ।

लिपि के विविध रूप—भाषा का आरम्भ उसके मौखिक या उच्चरित रूप से हुआ, यह निर्विवाद है। आदिमानव समाज में मनुष्य को जहाँ संवाद तथा संप्रेषण की, अपने मस्तिष्क में उभरे अर्थ को औरों तक पहुंचाने की आवश्यकता महसूस हुई, वहीं से उच्चरित भाषा का उद्गम हुआ। किन्तु भाषा केवल दो (या अधिक) व्यक्तियों के बीच सीधे संवाद का ही नहीं, आत्माभिव्यक्ति का भी माध्यम है। जहाँ व्यक्ति केवल अपने आपको अभिव्यक्त करना चाहे, या जहाँ उसके समान श्रोता न हों, वहाँ उसे अभिव्यक्ति की दूसरी सरणियों अथवा तरीकों की जरूरत हुई। आदिमानव के शैलाश्रयों में पाए जानेवाले चित्र अभिव्यक्ति के ऐसे ही माध्यम हैं और इसी सरणी में आगे चलकर लिपि का विकास भी हुआ।

आदिमानव के शैलचित्रों के बाद लिपि का सबसे पहला रूप **चित्रलिपि** ही था जिसमें लिपिचिह्न आज की तरह ध्वनियों के प्रतिक न होकर वस्तुओं के प्रतीक थे। उदाहरण के लिए मनुष्य, पशु, हथियार, बर्तन जैसी वस्तुओं के द्योतन के लिए इन वस्तुओं के या इनसे मिलती-जुलती आकृतियों के चित्र बना लिए जाते थे। ये चित्र ही लिपिचिह्न होते थे और उस वस्तु का प्रतीक भी। आज भी यातायात संबंधी संकेत चिह्नों में ऐसे चित्रों/ प्रतीकों का प्रयोग किया जाता है। इस लिपि की विशेषता इसकी स्पष्टता और सहज अर्थबोधन है।

इस प्रकार की लिपि की कई सीमाएँ थीं। जीवन शैली की बढ़ती जटिलता के साथ वस्तुओं की संख्या भी तेजी से बढ़ रही थी। ऐसे में हर वस्तु का चित्रलिपि में अंकन कठिन था। साथ ही, अमूर्त भावनाओं और अनेक प्रकार के क्रियाकलापों की अभिव्यक्ति भी इस लिपि में ठीक से नहीं हो सकती थी। इसलिए लिपि क्रमशः अधिक प्रतीकात्मकता की ओर बढ़ी।

लिपि के विकास का अगला चरण था **शब्दचिह्न लेखन**। इसमें 'लिपि प्रतीक' वस्तु के नहीं वरन् शब्द के बोधक होते थे। आज हमारी अधिकतर लिपियाँ ध्वनि पर आधारित हैं। अर्थात् किसी शब्द के उच्चारण में जो-जो ध्वनियाँ आती हैं, हम उन ध्वनियों के प्रतीक वर्णों को उसी क्रम में साथ रखते हैं—जैसे 'कमल' शब्द के लिए हम 'क', 'म' तथा 'ल' ध्वनियों के प्रतीकों को उसी क्रम में रख देते हैं और उनका इकट्ठा उच्चारण उच्चरित शब्द को उसी रूप में हमारे सामने ले आता है। किन्तु **शब्द चिह्न लेखन** में शब्द के अलग-अलग हिस्सों को जोड़कर नहीं लिखा जाता बल्कि पूरे शब्द के लिए कोई एक लिपि चिह्न तय कर लिया जाता है। अर्थात् 'कमल' शब्द के लिए जो लिपिचिह्न होगा उसका 'क'-'म'-'ल' ध्वनियों में विश्लेषण नहीं हो सकेगा। यहाँ पूरे शब्द के लिए एक ही प्रतीक होगा। इसमें वस्तु का चित्रांकन भी नहीं होता किन्तु एक वस्तु के लिए एक ही निश्चित चिह्न तो होता ही है और लेखन में शब्दों के उन प्रतीक चिह्नों को चित्रलिपि की ही भाँति क्रम से प्रस्तुत किया जाता है। इस दृष्टि से

यह पद्धति चित्रलिपि की पद्धति से कुछ-कुछ मिलती है, किन्तु इसमें अमूर्त भावनाओं, विविध क्रियाओं आदि का द्योतन भी हो सकता है। इससे इसकी क्षमता तथा क्षेत्र चित्रलिपि से बहुत अधिक है। चीनी भाषा की लिपि इसी प्रकार की है।

इस परिवार की लिपियों में संसार का श्रेष्ठ साहित्य भी लिखा गया है किन्तु इसकी भी कुछ सीमाएँ हैं। मुख्य बात तो यही है कि भाषा में शब्दों की संख्या बढ़ती रहती है और हर शब्द के लिए एक प्रतीक रखा जाए तो प्रतीकों की संख्या इतनी हो जाएगी कि उन्हें याद रखना असंभव हो जाएगा। इतने प्रतीकों को समझना, पढ़ना और लिखना, सभी बेहद श्रमसाध्य है। साथ ही इसमें जटिल भावनाओं, क्रियाओं तथा अमूर्त संकल्पनाओं के बोधक शब्दों का विश्लेषण तथा अर्थबोध भी आसान नहीं होता।

इन असुविधाओं का निवारण **आक्षरिक लेखन व्यवस्था** में हुआ जिसमें पूरे शब्द के लिए एक लिपि चिह्न न होकर अलग-अलग अक्षरों के लिए लिपि चिह्न तय किए गए। इसमें शब्दों में आने वाले अक्षरों के प्रतीक लिपि चिह्नों को जोड़कर शब्द लिखा जा सकता था। चूँकि अक्षरों की संख्या शब्दों की तुलना में बहुत कम होती है। इसलिए इस श्रोणी की लिपि को याद रखना और लिखना शब्द लेखन पद्धति की अपेक्षा बहुत आसान था। यह लेखन पद्धति अक्षरों की ध्वनियों पर आधारित थी और यही आगे चलकर वर्णात्मक लिपि व्यवस्था का आधार बनी।

वर्णात्मक लिपि व्यवस्था अन्य व्यवस्थाओं से अधिक सहज तथा वैज्ञानिक सिद्ध हुई। इसमें लिपिचिह्नों का आधार अक्षरों के स्थान पर वर्ण बने। अक्षरों में एक से अधिक वर्णों का मेल हो सकता है किन्तु वर्ण भाषा की ध्वनियों का बिलकुल मूल रूप में प्रतिनिधित्व करते हैं।

भाषा की ध्वनियों के संदर्भ में 'स्वनिम' पर चर्चा भी जरूरी है। **हर भाषा की अपनी विशिष्ट ध्वनियाँ होती हैं जिन्हें उस भाषा के स्वनिम कहा जाता है। किसी भाषा की ध्वनि-व्यवस्था के अंतर्गत आने वाले स्वनिम किसी लिपिचिह्न के रूप में अभिव्यक्त होकर वर्ण कहलाते हैं।** उदाहरणार्थ, हिन्दी में 'अ' वर्ण 'अ' ध्वनि का प्रतीक है और जब भी वह वर्ण लिखा जाएगा, उसका उच्चारण 'अ' ही होगा, कुछ और नहीं। जिस प्रकार उच्चारण में एक या एक से अधिक ध्वनियाँ मिलकर एक शब्द बनाती हैं, उसी प्रकार लेखन में उन ध्वनियों के प्रतीक वर्ण उसी क्रम में आकर उसी शब्द को लिखित रूप में प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण के लिए हिन्दी के शब्द 'पानी' में चार ध्वनियाँ [प+आ+न्+ई] प्रयुक्त हुई हैं। लेखन में इन्हीं के प्रतीक इसी क्रम में आकर शब्द को लिखित आकार दे रहे हैं। यह पद्धति चित्रलिपि या शब्दचिह्न लेखन पद्धति की अपेक्षा बहुत अधिक सरल है क्योंकि इसमें हर वर्ण किसी वस्तु या शब्द का प्रतीक न होकर भाषा की किसी ध्वनि-अर्थात् स्वनिम का प्रतीक होता है। चित्रलिपि या शब्दचिह्न लेखन में जहाँ असंख्य वस्तुओं या असंख्य शब्दों के लिए असंख्य लिपिचिह्नों की जरूरत होती है—चाहे उन वस्तुओं के नामों या शब्दों में ध्वनियों की कितनी ही समानता क्यों न हो, वर्ण लेखन में केवल भाषा की ध्वनियों से संबद्ध वर्णों की पहचान करनी पड़ती है जिनकी संख्या सीमित ही होती है। भाषा का कोई भी ध्वनि समूह अर्थात् शब्द हो, उसे इन्हीं कुछ वर्णों में लिखा जा सकता है।

भाषावैज्ञानिक लिखित भाषा को मौखिक भाषा का प्रतिबिंबन मानते हैं। वर्णात्मक लिपि व्यवस्था में यह प्रतिबिंबन बहुत सहज तथा स्पष्ट रूप में होता है।

प्रसंगवश, अंग्रेज़ी आदि भाषाओं में कई बार एक ही वर्ण एकाधिक ध्वनियों के लिए प्रयुक्त होता है, जैसे C का प्रयोग कभी 'क' ध्वनि के लिए (Cat) और कभी 'स' ध्वनि के लिए (Cell) हो जाता है। इसी प्रकार कभी एक ही ध्वनि के लिए भिन्न-भिन्न वर्णों का प्रयोग भी होता है, जैसे 'स' ध्वनि कभी S से अभिहित होती है (Sell, Sea) और कभी C से (Cell, cinema)। मगर ऐसा सीमित संदर्भों में होता है। वस्तुतः हिन्दी भाषा की देवनागरी को सबसे अधिक वैज्ञानिक लिपि इसलिए भी माना जाता है कि इसमें एक निश्चित ध्वनि/स्वनिम के लिए एक निश्चित वर्ण का ही प्रयोग होता है और कोई एक निश्चित वर्ण हमेशा एक निश्चित ध्वनि का ही प्रतिनिधित्व करता है। उदाहरण के लिए वर्ण 'क' का प्रयोग हमेशा 'क' ध्वनि के लिए ही होगा किसी अन्य ध्वनि के लिए नहीं और 'क' ध्वनि लेखन में हमेशा इसी वर्ण के माध्यम से अभिव्यक्त होगी, किसी भी अन्य वर्ण के माध्यम से नहीं।

वर्णों का लोप तथा आगम—भाषा गतिशील होती है और इसलिए इसमें समय के साथ-साथ परिवर्तन भी होते चलते हैं। लिपि में से कभी-कभी कुछ वर्ण संबद्ध ध्वनियों का उपयोग न होने के कारण लुप्त भी हो जाते हैं। अनेक वर्ष पहले नागरी लिपि में संस्कृत ध्वनियों के प्रतीक 'लृ' वर्ण को हिंदी की वर्णमाला में भी रखा जाता था। किंतु हिंदी में इस ध्वनि का प्रयोग न होने के कारण यह वर्ण लुप्त हो गया।

मगर हमेशा ऐसा नहीं होता। कभी-कभी कुछ अनावश्यक वर्ण भाषा में संरक्षित भी रह जाते हैं। कारण यह है कि उच्चारण के स्तर पर भाषा में परिवर्तनों की गति तेज होती है। लिखित भाषा में यह अपेक्षाकृत धीमी होती है। इसलिए कभी-कभी ऐसा भी होता है कि उच्चरित भाषा में कोई ध्वनि लुप्त हो जाती है किंतु लिखित भाषा में उसका लिपि प्रतीक बना रहता है। उदाहरण के लिए हिंदी उच्चारण से आज 'ऋ' तथा 'ष' ध्वनियाँ लुप्त हो चुकी हैं और इनका उच्चारण अब क्रमशः 'रि' तथा 'श' के रूप में हो रहा है। किंतु इनके प्रतीक वर्णों का प्रयोग अब भी हो रहा है। हम जब 'ऋतु' लिखते हैं तो उसका उच्चारण 'रितु' करते हैं, 'शेष' का उच्चारण 'शेश' करते हैं और 'ऋषि' का उच्चारण 'रिशि'। ऐसी स्थितियों में ध्वनि तथा वर्ण का सामंजस्य टूट जाता है।

भाषा के विकास के साथ उसमें नए-नए **लिपि चिह्न या विशेषक चिह्नों का आगमन** भी हो सकता है। हर भाषा की अपनी ध्वनि व्यवस्था होती है पर अन्य भाषाओं से संपर्क के कारण भाषा में उनकी शब्दावली आ जाती है और साथ ही उन शब्दों से जुड़ी ध्वनियाँ भी। उदाहरणार्थ हिंदी में अरबी-फ़ारसी-तुर्की आदि के शब्दों के माध्यम से **क़, ख़, ग़, ज़, फ़** ध्वनियाँ और अंग्रेज़ी के शब्दों के माध्यम से **ज़** तथा **फ़** के अतिरिक्त **ऑ** ध्वनि भी आ गई है। कहीं तो इन ध्वनियों के तद्भव हिंदी रूपों का इस्तेमाल किया जा सकता है क्योंकि उससे मूल शब्द के अर्थ में कोई अंतर नहीं आता, जैसे 'कायदा', 'कॉलेज', 'ख़बर' और 'ज़ेब्रा' को हम 'कायदा', 'कालेज', 'खबर' और 'जेब्रा' कहें/ लिखें तो भी अर्थबोध में कठिनाई नहीं होगी। लेकिन कई जगह इस प्रकार के तद्भव उच्चारण से अर्थ में अस्पष्टता आ जाती है क्योंकि भाषा में उसी ध्वनि समूह का कोई और शब्द किसी अन्य अर्थ के साथ पहले से ही मौजूद है। उदाहरण के लिए—

हॉल (बड़ा कमरा)	हाल (दशा)
ताक़ (दीवार में बना आला)	ताक (टकटकी)
ख़ैर (कुशल)	खैर (कत्था)
ग़ौर (ध्यान)	गौर (गौरा, पार्वती)
गज़ (तीन फ़ीट का एक नाप)	गज (हाथी)
फ़न (हुनर)	फन (नाग का फैला हुआ सिर)—आदि।

ऐसी स्थिति में सही अर्थ के द्योतन के लिए मूल उच्चारणों की रक्षा करना बेहतर होता है किंतु भाषा में मूलतः उन उच्चारणों के प्रतीक लिपिचिह्न नहीं होते। ऐसे में भाषा में नए लिपि चिह्नों का प्रयोग भी आवश्यक हो जाता है जैसा आप नागरी में ऊपर दिए गए उदाहरणों में देख रहे हैं। ऑ (बॉल), क़ (ताक़) ख़ (ख़ैर), ग़ (ग़ौर) ज़ (गज़), फ़ (फ़न) हिंदी-नागरी में ऐसे ही आगत वर्ण हैं हालांकि इनका उपयोग मुख्यतः परिनिष्ठित भाषा और औपचारिक स्थितियों में ही होता है।

वर्णंतर लिपिचिह्न—लिपिचिह्न या वर्ण इस प्रकार विशिष्ट ध्वनियों के प्रतीक होते हैं, किंतु भाषा में अर्थ की अभिव्यक्ति केवल वर्णों से बने शब्दों की शृंखला के माध्यम से नहीं हो पाती। वक्ता बोलते हुए कहाँ, कितनी देर तक रुकता है (विराम), बात में किस जगह बल देकर उच्चारण करता है (बलाघात), उसकी आवाज़ में किस जगह और कैसा उतार-चढ़ाव आता है (अनुतान)—इन सब बातों का प्रभाव भी अर्थबोध पर पड़ता है। विराम के आधार पर अर्थ में परिवर्तन का प्रसिद्ध उदाहरण है—

- (क) रोको, मत जाने दो।
- (ख) रोको मत, जाने दो।

एक छोटे-से विराम के अंतर से ही पूर्णतः समरूप ध्वनिशृंखला का अर्थ बिल्कुल विपरीत हो गया है। वाक्य में इस विराम के स्थान को जताने के लिए अन्य विराम के चिह्न (,) का उपयोग किया गया है। इसी प्रकार :

(क) यह राम की किताब है।

(ख) यह राम की किताब है?

यहाँ पहला वाक्य सामान्य सूचना दे रहा है, जबकि दूसरा वाक्य एक प्रश्न है जो मौखिक/ उच्चरित भाषा में विशिष्ट अनुतान के माध्यम से संप्रेषित होता है यहाँ उस आशय को स्पष्ट करने के लिए प्रश्नचिह्न का उपयोग हुआ है। इस प्रकार लिपि में वर्णों के अतिरिक्त भी कुछ विशेष संकेतों—जैसे विराम चिह्न (अल्पविराम, अर्धविराम, पूर्ण विराम आदि), विशेषक चिह्न (प्रश्न चिह्न, विस्मयबोधक चिह्न आदि), योजक चिह्न आदि—के माध्यम से उच्चरित भाषा द्वारा संप्रेषित विशिष्ट अर्थ को अभिव्यक्त करने की चेष्टा की जाती है। हाँ, इस चेष्टा की भी अपनी सीमाएँ हैं क्योंकि उच्चरित भाषा की हर विशेषता—हर बलाघात और अनुतान का सामान्य लेखन में प्रयोग नहीं होता, न हो सकता है। इसके अतिरिक्त वक्ता के कथन के साथ ही उसके हाव-भाव, चेष्टाओं आदि से बात के अर्थ में जो विशेषता आती है, उसका संप्रेषण लेखन से नहीं हो सकता।

लिपि [लेखन] की उपयोगिता—भाषाशास्त्रियों ने वाक् को भाषा का प्रमुख और स्वभाविक माध्यम माना है और लेखन को उसके गौण तथा दृश्य माध्यम का दर्जा दिया है। यह तथ्य भी है कि भाषा का जन्म वाक् प्रतीकों की व्यवस्था के रूप में हुआ है और हर सामान्य मानव शिशु को बोलना सहज रूप से अनायास ही आ जाता है। लेकिन आज के समय और **समाज में भाषा का लिखित रूप भी लगभग उतना ही महत्वपूर्ण हो चला है।** यह सही है कि भाषा को पढ़ने-लिखने वालों की संख्या इसे बोलने वालों की तुलना में काफी कम है क्योंकि पढ़ना-लिखना एक अर्जित कौशल है—इसे सीखना पड़ता है। किन्तु इस कौशल को अर्जित करना भी आज के समय की अनिवार्यता है जो समाचार पत्र पढ़ने, पत्र लिखने या ज्ञानार्जन और डिग्री लेने तक की सीमित नहीं है। आप कुछ देर सड़क पर ही चलकर देखें। सड़क के नामपट्ट, यातायात संबंधी निर्देश, संस्थानों-अस्पतालों, स्कूलों, कॉलेजों आदि के नाम, दूकानों तथा विज्ञापनों के साइनबोर्ड, बसों पर अनेक नंबर, लक्ष्य स्थान तथा रूट आदि की जानकारी तथा **अनेक प्रकार की अन्य सूचनाएँ—सभी लेखन के माध्यम से ही हमारे सामने आते हैं।** इसी से स्पष्ट हो जाता है कि लिपि के ज्ञान के बिना व्यक्ति को कितनी कठिनाई हो सकती है।

लेखक ने मानव समाज में भौगोलिक दूरियों को मिटाकर परस्पर संबंध तथा संपर्कों को और अधिक आसान बना दिया है क्योंकि इसके द्वारा दो व्यक्ति आमने-सामने न होकर भी संपर्क कर सकते हैं। समाचार पत्रों तथा पत्रिकाओं के माध्यम से हमें संपूर्ण विश्व से संबद्ध जानकारी मिलती है जिससे हमारे ज्ञान तथा अनुभव का क्षेत्र व्यापक होता है। लिपि ने निस्संदेह मानव-मानव के बीच संवाद का क्षेत्र बढ़ा दिया है।

मौखिक जानकारी की तुलना में **लिखित जानकारी इसलिए भी अधिक सुविधाजनक होती है कि इसे संरक्षित रखा जा सकता है**, समय तथा सुविधा के अनुसार पढ़ा जा सकता है और आवश्यकता पड़ने पर बार-बार भी पढ़कर बात को स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है।

लिपि के माध्यम से ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र का तो अतुलनीय प्रसार हुआ ही है, अध्ययन के क्षेत्र में भी यह अपरिहार्य हो गई है। आज विद्यार्थियों के लिए गुरु के वचनों को बार-बार सुनकर कंठस्थ करने की बाध्यता नहीं है। विभिन्न कालों और स्थानों में **उद्भूत ज्ञान उनके लिए लिपि के माध्यम से सहज ही उपलब्ध है** और वे स्वयं भी अपनी **सीखी-समझी बात को लिखकर आगे के अध्ययन के लिए सुरक्षित रख सकते हैं।** इस प्रकार रटंत प्रक्रिया में लगनेवाले समय और श्रम का वे कहीं और सदुपयोग कर सकते हैं।

लिपि **भाषा के रूप में मानकता और स्थिरता** भी लाती है। उच्चरित भाषा में परिवर्तन जल्दी-जल्दी होते हैं लेकिन लिखित भाषा में यह रफ्तार काफी धीमी होती है। उदाहरणार्थ हिन्दी के शब्द 'बाबूजी' को लें। हिन्दी के पूर्वी क्षेत्र में इसका उच्चारण 'बाऊजी' होने लगा है जो पश्चिमी क्षेत्र तक आते-आते क्रमशः 'बाउजी' और 'बौजी' हो गया है। किन्तु लेखन में इसे हर क्षेत्र में 'बाबूजी' ही लिखा जाता है जिससे हर क्षेत्र का व्यक्ति इसे पढ़कर एक

ही अर्थ में समझ सकता है। दूसरे क्षेत्र की उच्चरित भाषा को समझने में कई लोगों को कठिनाई हो सकती है। **लिखित भाषा मौखिक भाषा की अपेक्षा अधिक औपचारिक भी होती है।** इन्हीं बातों से मानकता की बात भी जुड़ी है। **लिखित भाषा सामान्यतः वर्तनी ही नहीं, शब्दावली, संरचना और व्याकरण की दृष्टि से भी मानक रूपों का ही प्रयोग करती है।** इस तरह वह भाषा के मानक रूप को संरक्षित रखती है और भाषा के अध्ययन में सहायक भी होती है।

सदियों का साहित्य तथा ज्ञान-विज्ञान लिपि के माध्यम से ही सुरक्षित तथा संरक्षित रहा है और आगे भी इन्हें संरक्षित रखने के लिए लिपि का उपयोग हो रहा है।

सारांशतः, लिपि का आरंभ चित्रलिपि से माना जाता है किंतु आज ध्वन्यात्मक वर्ण लेखन अधिक वैज्ञानिक तथा सुविधाजनक होने के कारण अधिक प्रचलित हैं। भाषा में लिपि का उद्भव ध्वनि के बाद हुआ किंतु भाषा के संरक्षण में तथा उसकी व्यापकता बढ़ाने में इसकी बेहद महत्वपूर्ण भूमिका को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता।

सम्भावित प्रश्न—

1. भाषा और लेखन की पारस्परिकता का विवेचन कीजिए।
2. लेखन विधि (लिपि) की विकास यात्रा पर टिप्पणी लिखिए।
3. मौखिक और लिखित भाषा की सीमा और शक्ति का वर्णन कीजिए।
4. वर्णों का लोप और आगम पर टिप्पणी लिखिए।

(ख) भाषा और समाज

डॉ. विभा गुप्ता
पूर्व रीडर, हिंदी विभाग
कमला नेहरू कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

भाषा क्या है और उसका वैज्ञानिक अध्ययन क्यों जरूरी है, ये आधारभूत एवं महत्वपूर्ण प्रश्न विचारणीय हैं। जीवन और जगत से जुड़ी भाषा मानव जाति की अमूल्य सम्पदा है, उसका स्वायत्त अध्ययन हमें अपनी पहचान तो देता ही है, साथ ही विश्व में अपनी पहचान बनाने में सहायक सिद्ध होता है। इस दृष्टि से समाज में भाषा के प्रयोग का अध्ययन महत्वपूर्ण है। **भाषा को जानना और समाज में उसके सफल प्रयोग की जानकारी वस्तुतः संप्रेषण एवं भाव-बोध दोनों ही दृष्टियों से जरूरी है।** भाषा के प्रति सजग चेतना और उसकी प्रकृति की समझ इसमें सहायक सिद्ध होती है क्योंकि **भाषा मानव समाज के आंतरिक भेदों की अभिव्यक्ति का सशक्त और सक्षम माध्यम है।** यह भी स्मरणीय है कि अपने प्रयोग में जहाँ भाषा नई सर्जनात्मक संभावनाओं से युक्त लचीली और नव्यता लिए हुए होती है, वहीं मानवीय विशेषता के रूप में भाषा जाति-विशिष्ट और सर्जनात्मक-अनुकरण से युक्त भी होती है। हमारी चिंतन प्रक्रिया, भाव-बोध और विचाराभिव्यक्ति का साधन होकर भाषा हमारे भाव जगत और बाह्य-जगत के बीच तादात्म्य स्थापित करती है। अपने प्रयोजन में बहुमुखी भाषा मन की सर्जनात्मक तथा व्यवहार की सामाजिक शक्ति के साथ हमारे सामने आती है।

भाषा वस्तुतः वर्ग, आयु, जाति, धर्म, शिक्षा आदि सभी से नियंत्रित होती है क्योंकि समाज की अपनी व्यवस्था और परिस्थिति के अनुकूल ही समाज में प्रचलित स्तर भेद होते हैं। भाषा विज्ञान भाषा की अमूर्त-जटिल प्रकृति तथा उसके प्रयोजनपरक प्रकार्य की समझ में सहायक सिद्ध होता है। भाषा की परिभाषा में भी उसकी प्रकृतिपरक पक्ष यानी उसके मानव के मुख द्वारा उच्चरित यादृच्छिक ध्वनि प्रतीकों की व्यवस्था होने तथा उसके प्रयोजनपरक पक्ष यानी उसके भाषा-समुदाय विशेष के विचार-विनिमय का साधन होने के दो पक्षों का समाहार दिखाई देता है। भाषा विज्ञान हमें भाषा के सामान्य सार्वभौमिक सिद्धांतों तथा मानव-भाषा की अभिरचनाओं (पैटर्नों) की समझ देता है, साथ ही वह भाषा के मानवीय व्यवहार की सही समझ का सशक्त-विश्वस्त साधन भी सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त मानसिक तथ्य होने के साथ भाषा अन्य विधाओं जैसे मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, साहित्य, दर्शनशास्त्र आदि के लिए भी संगत और प्रासंगिक होती है। मानव के सम्य-सुसंस्कृत बनने के लिए भी भाषा और उसके प्रयोग की सही जानकारी अपेक्षित है। भाषा से जुड़ी क्षमता और व्यवस्था को लें तो वहाँ समरूपता मिलती है परंतु भाषा की दक्षता और व्यवहार को देखें तो वह विषमरूपी होते हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखकर ही समाज भाषा विज्ञान 'संप्रेषण के लिए भाषा' के सिद्धांत को मानता है और सामाजिक अर्थ के द्योतक भाषा-व्यवहार के वैविध्य में एक निश्चित व्यवस्था देखता है। **यही नहीं वह 'भाषा विकल्पन' को भाषा-विकास का द्योतक भी मानता है जिसे हम सामाजिक लक्षणों के आधार पर पहचान सकते हैं।**

अपनी समूहगत प्रवृत्ति के कारण ही **भाषा समाज-सापेक्ष प्रतीक-व्यवस्था** कहलाती है और इसी से वह संदर्भगत औचित्य की महत्ता तथा 'वार्तालाप' की सत्ता स्वीकार करके प्रकार्यात्मक संप्रेषण की क्षमता का लक्ष्य साधती है। 'शाब्दिक घटना' (स्पीच ईवेंट) या 'प्रोक्ति' (डिस्कोर्स) को विश्लेषण की महत्तम इकाई मानकर न केवल व्यक्ति के अनुभवों को अभिव्यक्त या-संप्रेषित करने का साधन बनती है वरन् **वह परस्पर संबंधों द्वारा व्यक्ति की सामाजिक अस्मिता को भी सूचित करती है।**

इस प्रयोग-संदर्भ में भाषा का विषमरूपी स्वरूप सामने आता है। कौन, किससे, कब, कहां और क्या कह रहा है, इसकी जानकारी अर्थ की पूर्ण और सही समझ बनाने के लिए जरूरी है। **उदाहरण के लिए** हिंदी के मध्यम पुरुष सर्वनाम-रूपों को देखें तो अपने व्याकरणिक रूप के साथ ये तीनों रूप-तू (तिरस्कार एवं आत्मीयता), 'तुम' (समानता एवं सौहार्द्र), और 'आप' (आदर एवं बड़प्पन)-विभिन्न प्रयोगार्थों को व्यंजित करते हैं। ये रूप समाजगत-व्यवहार को भी दर्शाते हैं क्योंकि इनसे **वक्ता-श्रोता की सामाजिक स्थिति, सांस्कृतिक-शैक्षिक संस्कार, पारिवारिक-क्षेत्रीय पृष्ठभूमि** आदि की सूचना भी मिलती है।

संप्रेषण-क्षमता के लिए भाषा के **व्याकरणिक नियमों** एवं उसके प्रयोग के समाजगत औचित्य के नियमों का ज्ञान जरूरी होता है। भाषा के विविधतापूर्ण विषमरूपी स्वरूप को प्रदर्शित करने वाले प्रयोगों और इनसे सम्बद्ध सामाजिक कोटियों को हम परिस्थितिगत प्रतिबंधों के संदर्भ में व्याख्यायित कर सकते हैं। भाषा इसी से **वर्ग, लिंगभेद, जातीयता** और **अस्मिता** की बोधक भी बनती है। नाते-रिश्तों और स्थान की **एकजुटता, लिंग** और **आयु** से सम्बद्ध सामाजिक विभिन्नता **धर्म और संस्कृति** जैसे एकाधिक वर्गों की सदस्यता, जातीयता के सामाजिक रूप में दूसरे सामाजिक समूह में घुल-मिल जाना आदि तथ्य महत्वपूर्ण हैं। वक्ता के लिए समाज और वातावरण की अनुकूलता प्राप्त करना जरूरी होता है और उस पर दूसरों [श्रोता] की प्रतिक्रिया ही बातचीत का आधार बन जाती है।

भाषा-जन्य विविधता के दो रूप सामने आते हैं : एक तो **क्षेत्रीय बोली का रूप** यानी क्षेत्र विशेष से सम्बद्ध विशेषताओं वाला भौगोलिक क्षेत्रीय रूप और दूसरा **सामाजिक बोली का रूप** यानी भाषा का सामाजिक अस्मिता से जुड़ा रूप। उच्च-मध्य-निम्न वर्ग का भेद, हिंदू-मुसलमान जैसे जातिगत भेद या फिर नर-मादा जैसे लिंग से जुड़े भाषा भेद आदि में भी एक सोपान-क्रम देखा जा सकता है। **संचार-माध्यमों की बढ़ती महत्ता वाले आज के युग में एक ओर भाषा का मानक रूप है और दूसरी ओर 'पॉप्यूलर कल्चर' का विषय बनने के साथ विविध क्षेत्रों में-बाजार, शिक्षा पत्र-पत्रिका आदि में-भाषा का प्रयोग बहुमुखी विस्तार पा रहा है।** आज राष्ट्रीय-सांस्कृतिक क्षेत्रों से आगे बढ़कर भाषा, राजनीति, अर्थ-व्यवस्था, कानून, शिक्षा, खेलकूद आदि से जुड़ी रुचियों को समेटती हुई आगे बढ़ रही है।

भारतीय भाषा परिदृश्य में हिन्दी प्रदेश के बहुभाषिक संदर्भ को देखें तो हर व्यक्ति द्विभाषिक है : व्यक्तिगत-पारिवारिक धरातल पर वह अपनी मातृ बोली का प्रयोग करता है, समूह एवं शिक्षा के संदर्भ में साक्षरता की माध्यम भाषा-1 के रूप में वह क्षेत्रीय बोली को अपनाता है, सामान्य शिक्षा के स्तर पर वह माध्यम भाषा-2 के रूप में हिंदी को स्वीकार करता है और उच्च-शिक्षा के स्तर पर माध्यम भाषा-3 से रूप में वह हिंदी-अंग्रेजी दोनों भाषाओं का प्रयोग करता है। हिंदी के संदर्भ में यह भी स्मरणीय है कि इस स्तर पर हमें हिंदी की आधारभूत 'हिंदुस्तानी' शैली के साथ दो आरोपित शैलियाँ-उच्चहिंदी (संस्कृतनिष्ठ) और उच्च उर्दू (फारसी निष्ठ) भी मिलती हैं।

यह भी उल्लेख्य है कि संप्रति इस धरातल पर अंग्रेजी-मिश्रित/ प्रभावित हिंदी की एक नई शैली का रूप भी उभर कर सामने आ रहा है। प्रसिद्ध भाषा शास्त्री डॉ. रवींद्रनाथ श्रीवास्तव के उदाहरण के माध्यम से यह भी द्रष्टव्य है कि 'कल आए' जैसे सामान्य वाक्य के तीन स्पष्ट अर्थ हैं : (i) सामान्य शाब्दिक अर्थ यानी कल और आज के अर्थ के संभावनार्थ बहुवचन प्रयोग से वाक्यार्थ तक; (ii) उक्तिपरक अर्थ यानी वक्ता की अभिवृत्ति से जुड़ा अर्थ जो अनुरोध, इच्छा अथवा प्रश्नपरक अर्थ हैं, तथा (iii) अन्तर्वैयक्तिक अर्थ यानी प्रतिभागियों के सामाजिक संबंधों की प्रवृत्ति का परिचायक अर्थ। यह सब भाषा प्रयोग के सही संदर्भ और समाजगत नियमों की जानकारी के बिना संभव नहीं है। यहाँ हम इन्हीं विभिन्न संदर्भों में भाषा की विविधतापूर्ण क्षमता और सार्थकता का विवेचन करेंगे।

भाषा का समाज-संदर्भित अध्ययन इसीलिए सार्थक, उपादेय और आवश्यक होता है।

1. भाषा और वर्ग (Language and Class)

मनुष्य की सामाजिक पृष्ठभूमि का परिचय देकर भाषा उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा का परिचय भी देती है। एक ओर तो यह प्रतिष्ठा ही समाज में ऊर्ध्वाधर (वर्टिकल) वर्ग-निर्धारण का प्रमुख आधार होता है, दूसरी ओर व्यवसाय के आधार पर समस्तरीय (हॉरीजॉन्टल) विभाजन दिखाई देता है। ये दो आयाम हमें वर्गगत नियमों की जानकारी देते

हैं। आर्थिक दृष्टि से प्रतिष्ठा का अधिक्रम वर्ग की संरचनात्मक व्यवस्था का परिचय देता है जिससे हम वक्ता-श्रोता की वरीयता-लघुता को पहचानते हैं। **भाषा के वर्गगत रूप में एकजुटता अथवा निष्क्रियता की सक्रिय भूमिका नहीं होती पर एक भाषा का प्रयोग वक्ता-श्रोता के परस्पर संबंधों को अदृश्य रूप में व्यक्त करता है और इससे वर्ग-संघर्ष का संकेत भी मिलता है।** भाषा प्रयोक्ताओं के भाषा-प्रयोग एक ओर तो हमें समाज की मूल्य-व्यवस्था के संस्थागत-नैतिक मूल्यों का और दूसरी ओर सामान्य और श्रमिक वर्ग की गौणमूल्य-व्यवस्था की प्रधानता की सूचना भी देते हैं। **उदाहरण के लिए** अध्यापक-छात्र के परस्पर संबंध को लें, तो सामान्यतः अध्यापक अपने छात्र के लिए 'तुम या तू' रूप का प्रयोग करेगा जबकि छात्र अपने अध्यापक के लिए 'आप' रूप का प्रयोग करेगा। परस्पर वार्तालाप में छात्र 'तुम या तू' रूप का प्रयोग करेंगे। यह संभव है कि निम्न वर्ग से जुड़ा छात्र अध्यापक के लिए भी 'तुम' रूप का प्रयोग कर सकता है। यहाँ दिल्ली में पंजाबी भाषा से प्रभावित हिन्दी का प्रचलित वाक्य 'आप बैठो' उपर्युक्त उल्लिखित दोनों प्रवृत्तियों के समन्वित रूप का घोटक है।

प्रसिद्ध भाषाविद् गम्पर्ज के अनुसार हिन्दी-भाषी क्षेत्र के अध्ययन के लिए शहरी-ग्राम्य, शिक्षित-अशिक्षित, उच्च-निम्न वर्ग के बीच तीन स्तरों पर सक्रियता से पाई जाने वाली भाषाई विविधता का अध्ययन आवश्यक है। ये तीन स्तर हैं—(1) **स्थानीय-ग्रामीण स्तर पर प्राप्त ग्राम्य बोली**, (2) **शहरी व्यापार-क्षेत्र से सम्बद्ध क्षेत्रीय बोली** और (3) **शहरी क्षेत्र में द्वितीय-तृतीय भाषा के रूप में प्रयुक्त हिन्दी की 'ट्राइग्लोसिया' की स्थिति।** वास्तव में यह स्थिति हिन्दी की दो शैलियों हिन्दुस्तानी और संस्कृतनिष्ठ उच्च हिन्दी के रूप में भी देखी गई हैं। हिन्दी के कलकतिया, बम्बइया, मद्रासी अथवा मछुआरों की हिन्दी जैसे स्थानीकृत रूपों को भी हम अनदेखा नहीं कर सकते।

जाति और स्तर के सहसंबंध के कारण गम्पर्ज सामाजिक वर्गीकरण को महत्व देते हैं। **वर्गगत वर्गीकरण का आधार सम्पत्ति भी है** जिसके अन्तर्गत उच्च और निम्न वर्गों की दो सीमाओं के बीच मध्य वर्ग की स्थिति मिलती है। **प्रेमचंद** की प्रसिद्ध कहानी 'शतरंज के खिलाड़ी' में दोनों नवाब मीर और मिर्जा परस्पर सामान्य वार्तालाप में 'आप' सर्वनाम रूप का प्रयोग करते हैं परन्तु अंत में परस्पर झगड़ा होने पर उनकी भाषा 'तू'-तड़ाक तक पहुँच जाती है। दोनों नवाब अपनी-अपनी बेगमों के लिए 'तुम' रूप का प्रयोग करते हैं। नवाब और बेगम दोनों ही 'लौंडी' [दासी] के लिए 'तू' का व्यवहार करते हैं। यह भी द्रष्टव्य है कि मिर्जामीर जहाँ अपने लिए 'हम' सर्वनाम रूप का प्रयोग करते हैं, वहीं उनकी बेगमों अपने लिए 'मैं' रूप प्रयुक्त करती हैं। **स्पष्ट है कि समाज में इन तीन सर्वनाम रूपों के प्रयोग से तीनों वर्गों की पद-प्रतिष्ठा भेद का निदर्शन भी होता है।**

इसी तरह स्थान के आधार पर भी हमें समाज के दो-शहरी और ग्रामीण वर्ग मिलते हैं जिनका उच्चारणगत भेद हम 'कमीज़/ कमीज' में देख सकते हैं। प्रेमचंद की कहानियों का ही उदाहरण लें तो 'कफ़न' कहानी का घीसू अपनी पत्नी के लिए 'औरत' और बुधिया के पति माधव के लिए 'मरद' शब्द का प्रयोग करता है। इन ग्रामीण पात्रों के विपरीत शहरी संस्कृति और संस्कार से युक्त दम्पति इस संदर्भ में 'पति-पत्नी' अथवा 'हस्बैण्ड-वाइफ़' शब्द-रूपों का प्रयोग करते हैं।

एक तीसरा आधार समाज में लोगों की संख्या भी माना जाता है जैसे भारतीय संदर्भ में बहुसंख्यक हिंदू और अल्पसंख्यक मुस्लिम वर्ग। हिन्दी भाषा-समुदाय में प्रचलित एक आधारभूत शैली 'हिन्दुस्तानी' जहाँ जनसामान्य की प्रचलित बोलचाल की भाषा का प्रतिनिधित्व करती हैं, वहीं उसकी दो आरोपित शैलियाँ-संस्कृतनिष्ठ 'उच्च हिन्दी' और अरबी-फारसी निष्ठ 'उच्च उर्दू'-क्रमशः बहुसंख्यक हिंदू वर्ग का और अल्पसंख्यक मुस्लिम वर्ग का प्रतिनिधित्व करती हैं। प्रेमचंद की प्रसिद्ध कहानी 'ठाकुर का कुआँ' में हिन्दी के इन सभी शैलीगत रूपों के उदाहरण सरलता से मिल जाते हैं। जेखू और गंगी के परस्पर वार्तालाप में हिन्दुस्तानी का और ठाकुर के बेफ़िक्री और कानूनी दांव पेंच में उच्च उर्दू शैली का प्रयोग दर्शनीय है। सामान्यतः प्रेमचंद ने प्राकृतिक परिवेश एवं प्रकृति चित्रण में उच्च हिन्दी का प्रयोग किया है।

आज के संदर्भ में हिन्दी का प्रयोग देखें तो शिक्षा के संदर्भ में एक और वर्ग की स्थिति सामने आती है जिसके दो रूप हमें मिलते हैं। एक है—**अंग्रेजी से अभिप्रेरित शिक्षित वर्ग** और दूसरा है **हिन्दी की अभिप्रेरणा से युक्त कम शिक्षित या अशिक्षित वर्ग।** हिन्दी की शब्दावली प्रयोग एवं वाक्य-विन्यास आदि सभी पर इसका प्रभाव देखा जा सकता है। 'बाबा जी का भोग' कहानी में प्रेमचंद ने बाबाजी के माध्यम से ग्रामीण अशिक्षित एवं रामधन के माध्यम से (कम) शिक्षित वर्ग के भाषा प्रयोग के अंतर को स्पष्ट किया है। प्रेमचंद ने स्वतंत्रता से 'मिस-मिस्टर' संबोधन शब्दावली का प्रयोग भी उपर्युक्त अभिप्रेरणा की स्थिति को ही दर्शाया है।

शैली अध्ययन के दो प्रयोजन मूलक तथा सामाजिक-सांस्कृतिक स्तरों का उल्लेख डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव ने किया है। उनके अनुसार किसी समुदाय के भाषा-समाज का व्यवहार से निकला हुआ भाषा रूप प्रकार्य के अनुरूप तीन शैलीगत रूपों में सामने आ सकता है—प्रणाली के रूप में प्राप्त **भाषा शैली, साहित्यिक शैली** और **वाक् शैली**। सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर पर समाज-संदर्भित ऐसे भाषा रूप आते हैं जो वस्तुतः जाति, वर्ग, लिंग और शिक्षा के भाषेतर तथ्यों से सम्बद्ध रूप हैं। ये सभी भाषा रूप प्रतिष्ठा और समता के आधार पर हिंदी मध्यम पुरुष सर्वनाम 'तू-तुम-आप' का उदाहरण लें तो शैली के परिचायक ये रूप सामाजिक स्तर, परिस्थिति और भूमिका के शैली परिवर्तन का तथ्य सामने लाते हैं। वर्ग, जाति, लिंग आदि भेदों से नियंत्रित ये भाषा भेद प्रेमचंद की कहानियों में साक्ष्य के रूप में विद्यमान मिलते हैं। प्रेमचंद के भिन्न जाति, वर्ग, लिंग एवं संस्कृति से जुड़े स्त्री-पुरुष पात्रों के वार्तालाप उदाहरण के लिए देखे जा सकते हैं।

भाषा और वर्ग पर विचार करते हुए प्रसिद्ध भाषा शास्त्री बर्नस्टीन की मुख्य स्थापना यह है कि समाजीकरण से जोड़कर ही सामाजिक वर्ग की समस्या देखी जानी चाहिए। समाज की आधारभूत संरचना और सांस्कृतिक संक्रमण द्वारा उसमें परिवर्तन होता है। व्यक्ति का भाषा-प्रयोग वस्तुतः उसकी प्रतिष्ठा और भूमिका से परिचालित होता है। परिवार के संबंध, आयु, वर्ग, शैक्षिक कार्य से सम्बद्ध भूमिकाओं आदि के साथ बर्नस्टीन ने दो कोडो का उल्लेख किया है—**विस्तृत** और **सीमित**। विस्तृत कोड उच्चरित तर्क पर आधारित होता है। उसकी भाषा में निजी गुण, वैचारिकता, विशिष्ट शैली और औपचारिक संदर्भों में उच्च-मध्य वर्ग द्वारा प्रयुक्त भाषा रूप आते हैं। इसके विपरीत सीमित कोड स्थानीय और सामाजिक संगठन की समझ के साथ भाषा के विशिष्ट अर्थ की समझ में सहायक होता है। इसका प्रयोग अनौपचारिक संदर्भों में मध्य-निम्न वर्ग द्वारा किया जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि बर्नस्टीन भिन्न सामाजिक वर्गों के प्रत्यक्षीकरण एवं अनुभूतियों में अंतर मानते हैं। वे इससे सम्बद्ध दो दृष्टियों का उल्लेख करते हैं : निम्न श्रमिक वर्ग के व्यवहार में औपचारिक शिक्षा के प्रति विरोध की प्रबल भावना की सक्रिय अभिव्यक्ति। यहां कथ्य के मूल रूप की इस जानकारी पर बल रहता है जिससे प्रत्यक्षीकरण और अनुभव प्रभावित होते हैं। इसके विपरीत मध्यम वर्ग के बच्चों में प्राप्त विस्तृत कोड संदर्भ युक्त और लचीला होता है। **स्पष्ट है कि वर्गगत अंतर और उसकी भाषाई विविधता को सामाजिक वर्गीकरण ही स्पष्ट करता है। इसके लिए सामाजिक संरचना के साथ भाषा के सामाजिक प्रकार्य की जानकारी और सही समझ निश्चित रूप से उपादेय है।** समाज भाषाविज्ञान पर भाषाविदों का बल इसी तथ्य को रेखांकित करता है।

2. भाषा और लिंग-भेद (Language and Gender)

समाज भाषा विज्ञान स्त्री-पुरुष की सामाजिक भूमिका के परस्पर अन्तरसंबंध का अध्ययन भी करता है। इस भिन्नता के मूल में कौन-से तथ्य हैं—भाषा की संरचना या समाज में उनका परस्पर संबंध या फिर संबंध-स्थापन का तरीका अथवा जैविक रूप से निर्धारित होने वाला स्त्री-पुरुष का लिंगभेद जो आनुवांशिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक-सांस्कृतिक भिन्नताओं को भी समेट लेता है। सच तो यह है कि विभिन्न जातीय, सामाजिक, धार्मिक परिवेश से सामाजिक सदस्यों के बीच का संबंध समयानुकूल बदलता है। इसका कारण है—समाज में रहते हुए एक ही व्यक्ति की निरंतर बदलने वाली कई भूमिकाओं का निर्वाह करना। यह भी एक मान्य तथ्य है कि स्त्री पुरुष की भाषा में निश्चित रूप से अंतर होता है जिसके मूल में समाजीकरण की भिन्न प्रक्रिया और पारिवारिक तौर-तरीकों के बीच बड़े होने की स्थिति देखी जा सकती है। सामाजिक और पारिवारिक संस्कारों से भाषा का रूप और प्रयोग निस्संदेह प्रभावित होते हैं। सामान्यतः पुरुष की भाषा को ही 'नार्म' माना जाता है जिसके आधार पर स्त्री के भाषा रूपों का विश्लेषण किया जाता है। इस संदर्भ में होम्स पाँच सार्वभौमिक समाज भाषा वैज्ञानिक प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हैं : (i) स्त्री-पुरुष प्रयोग में भिन्न भाषा रूप अपनाते हैं; (ii) स्त्रियाँ अन्तर्विनिमयता के प्रभावी प्रकार्य पर ध्यान देती हैं; (iii) स्त्रियाँ एकात्मकता पर बल देने वाले भाषिक साधनों को अपनाती हैं; (iv) अन्तर्विनिमयता में स्त्रियों का ध्यान एकात्मकता पर और पुरुषों का ध्यान अपनी ताकत और प्रतिष्ठा पर रहता है; (v) शैली की दृष्टि से स्त्रियों की भाषा में अधिक लचीलापन होता है।

यह भी स्मरणीय है कि मानवीय प्रवृत्ति और व्यवहार को प्रभावित करने वाले 'नार्म' और आकांक्षाएँ सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था पर आधारित होने के साथ धर्म, जाति और भाषा जैसे बाह्य तथ्यों से भी प्रभावित होते हैं। पुनः ये सब तथ्य मिलकर स्त्री-पुरुष की भाषा-नार्म पर अपना प्रभाव तो डालते हैं परंतु ये 'नॉर्म' सार्वभौमिक नहीं होते। **लड़कों को विज्ञान और लड़कियों को मानविकी के विषयों के साथ जोड़ने का तथ्य इसी दृष्टि का प्रमाण है। इसके मूल में क्रमशः प्रतियोगिता एवं सहयोगिता की भावना सक्रिय मानी जाती है। सामान्यतः पुरुष का संबंध आक्रोश एवं नियंत्रण से और स्त्री का संबंध शांति, सेवा और देखभाल की भावना से जुड़ा हुआ माना जाता है। ये सभी तथ्य स्त्री-पुरुष की सामाजिक आकांक्षाओं एवं भूमिकाओं को प्रतिबिम्बित करते हैं** पर आज की सदी इस असमानता को चुनौती देने वाली है, इसमें भी संदेह नहीं है। इसी से आज के बदलते संदर्भों में स्त्री-पुरुष की भाषा में भी रूपान्तर का सन्निवेश दिखाई देता है, बदलती हुई भूमिकाओं के साथ जुड़े भाषा-रूप इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं।

नर-मादा भेद से जुड़ा (लिंग-भेद) (जेन्डर) एक आनुवांशिक, जैविक और प्राकृतिक भेद होने के साथ ही एक अन्य अर्थ से जुड़कर एक सामाजिक कंस्ट्रक्ट भी बनता है। भाषा के संदर्भ में हम व्याकरणिक लिंग जैसे पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसक लिंग जैसी इकाई की बात भी करते हैं। इसका संबंध प्रकृति से न होकर परम्परा और आदत से होता है; साथ ही इसका विभाजन भी हर भाषा विशेष का अपना निजी होता है। संस्कृत में ऊपर-उल्लिखित तीनों व्याकरणिक लिंग मिलते हैं (बालक-बालिका-फल) परन्तु हिंदी-अंग्रेजी में दो ही लिंग पुल्लिंग-स्त्रीलिंग मिलते हैं। यह भी द्रष्टव्य है कि आत्मा और श्वास जैसे शब्द संस्कृत में पुल्लिंग और हिंदी में स्त्रीलिंग हैं। भाषा-विशेष के संदर्भ में लिंग-भेद की चर्चा करने पर हम देखते हैं कि अन्य पुरुष के दो सार्वनामिक रूप 'ही-शी' मिलते हैं जबकि हिन्दी में इस भेद की अभिव्यक्ति विशेषण (अच्छा-अच्छी) अथवा क्रिया (जाता-जाती) के रूप द्वारा होती है। हर भाषा की संरचनात्मक-व्यवस्था का अध्ययन हमें इन तथ्यों का परिचय और प्रमाण देता है।

भाषा के सामाजिक अर्थ को कोडीकृत करने की दृष्टि से भाषाविदों ने स्त्री-पुरुष की भाषा का अध्ययन करने के लिए व्याकरणिक भिन्नता, प्रतिष्ठा, शैली-भेद आदि कई लड़के-लड़कियों की भाषा में एक उल्लेखनीय अंतर देखा है। उनका प्रमाणसम्मत विचार है कि कामकाजी परिवारों की बड़ी लड़कियाँ अपने छोटे भाई-बहनों के लिए माता की भूमिका निभाने के कारण उनके बीच एक मध्यस्थ होने की जटिल जिम्मेदारी को वहन करती हैं। 'क्रियात्मक अभिविन्यास' एवं 'समुदाय-प्रभावित वर्ग' से जुड़ी ये लड़कियाँ 'व्यक्ति प्रभावित' भी होती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि यहाँ प्रयुक्त भाषा रूप विस्तृत या व्यापक अर्थ पर निर्भर करता है। इसके साथ भूमिका एवं कोड परिवर्तन की संभावना भी जुड़ी रहती है। इसका अभिप्राय यह है कि वह लड़की जब किसी अन्य लड़की या लड़के से बात करेगी अथवा इन दोनों के बीच नियंत्रण कर्ता की भूमिका निभाएगी अथवा पारिवारिक संदर्भ में माता-पिता और छोटे भाई-बहनों के बीच मध्यस्थ की भूमिका में लड़की को रखें, तो इन भूमिकाओं के परिवर्तन के साथ लड़की की भाषा के कोड में भी निश्चित रूप से अंतर दिखाई देगा।

इसका कारण है-वक्ता के रूप में लड़की का भाषा-व्यवहार सामाजिक नियमों द्वारा नियंत्रित होता है। यह तथ्य भी ध्यान में रखना ज़रूरी है कि **भाषिक प्रकार्य से जुड़ा रहने के कारण स्त्री-पुरुष की भाषा में अंतर होना स्वाभाविक है। सामान्यतः पुरुष की भाषा कठोर एवं अशिष्ट होती है और स्त्रियों की भाषा में विनम्रता-शिष्टता मिलती है।**

स्त्रियों के साथ जुड़ा एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि विवाहोपरान्त उनके भाषिक वातावरण में अनिवार्यतः बदलाव आता है जिससे उसका प्रयोगपरक भाषा रूप अनुकूलन-प्रक्रिया से गुजरने के कारण प्रभावित होता है। आज की नई सदी में ब्रिटेन की पूर्व प्रधानमंत्री श्रीमती मार्ग्रेट थैचर ने अपने इस पद के लिए भाषा, टोन और सफर में भी स्वर बदलाव लाने का प्रयास किया था।

यदि हम अपनी साहित्यिक-परम्परा पर दृष्टि डालें तो भी स्त्री-पुरुष के प्राप्त भाषा-भेद हमारे समाज, के ढाँचे को ही प्रतिबिम्बित करते हैं। वक्ता-श्रोता के प्रतिभागिता के नियमों के विद्या-संदर्भित होने की चर्चा भी की गई है। संस्कृत नाटकों के पुरुष पात्र संस्कृत का प्रयोग करते हैं परंतु स्त्रियों और निम्न वर्ग के पुरुष पात्रों के लिए 'प्राकृत' का प्रयोग किया जाता है। हिंदी की साहित्यिक रचनाओं में 'गद्य में खड़ी बोली का प्रयोग और पद्यात्मक अंशों को

ब्रजभाषा में रखने की प्रवृत्ति भी इसी तरह की है स्पष्ट है कि हम जिन भाषा-रूपों का प्रयोग करते हैं वे स्त्री-पुरुष के प्रति हमारे समाज और संस्कृति के दृष्टिबोध को ही प्रतिबिम्बित करते हैं। यह अंतर मातृसत्तात्मक और पितृसत्तात्मक समाजों के स्त्री-पुरुषों की भाषा के अवलोकन से भी स्पष्ट होता है।

3. भाषा और जातीयता (Language and Ethnicity)

जातीयता को अपरिवर्तनीय पैतृत्व और परिवर्तनीय विरासत के सह-अस्तित्व वाले दो आयामों को समेटने वाली 'सांस्कृतिक निरन्तरता' के रूप में परिभाषित किया गया है। इसका एक रूप जैविक विरासत वाली भाषा है क्योंकि भाषा और सामाजिक व्यवहार हमें परम्परा से ही मिलते हैं। भाषिक रूपों के चयन में सामाजिक-सांस्कृतिक आदर्श और अपेक्षाएँ ही सक्रिय रहती हैं जो भाषा-व्यवहार के प्रयोग-क्षेत्र का परिचय भी देती हैं। प्रतिभागिता के ये नियम व्यक्ति से स्वतंत्र पर विधा विशेष से सम्बद्ध होते हैं। हम भाषा के जातीय पुनर्गठन का इतिहास संस्थागत दृष्टि से जान सकते हैं।

खड़ी बोली का विकास और प्रतिष्ठा इस तथ्य का प्रमाण है कि जातीय पुनर्गठन की सामाजिक प्रक्रिया में राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक कारणों से एक जनपदीय भाषा महत्त्व पा लेती है और सम्पर्क भाषा बनकर अंततः सामाजिक अस्मिता का मानक आधार बन जाती है। उच्च वर्ग के शिक्षित व्यक्ति की भाषा का 'मानक' बनने पर उसका स्वरूप प्रयोजनहीन और वैविध्यरहित हो जाता है। भारतीय भाषिक समुदाय की बहुभाषिकता और बहुशैलीपरकता एक ओर तो हमारी संस्कृति को सामाजिक बनाती है, दूसरी ओर हर भाषा अपने स्तर पर भाषाई अस्मिता भी पैदा करती है जिससे बोलियों और शैलियों के बीच सामंजस्य आता है। भाषा के आधार पर बनी जातीयता अथवा सामाजिक अस्मिता के संबंध में सही निर्णय हम तभी ले सकेंगे जब हम भारतीय बहुभाषिक और बहुशैलीपरक स्थिति को भली-भांति समझ लें।

स्वयं भाषा जातीयता के रंग से मुक्त होती है, उसे धर्म और जातीयता के रंग तो उसके प्रयोक्ताओं से मिलते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि भाषा को जातीय अस्मिता बनाने के कारण ऐतिहासिक और सामाजिक होते हैं। भारतीय संदर्भ में राष्ट्रीय एकता एवं स्वाधीनता की एकमात्र भाषा हिंदी ही रही है। यह हमारे देश की विडम्बना है कि जो हिंदी आजादी की लड़ाई में देश को एक सूत्र में बांधने वाली एकमात्र भाषा बनकर आजादी की चेतना की प्रतीक बनी, वही हिंदी स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद संविधान में राष्ट्रभाषा का पद नहीं पा सकी। हिंदी की महत्ता को समझकर उसकी पक्षधरता करने वाले महापुरुष ही बाद में क्यों उससे विमुख होकर अपनी-अपनी क्षेत्रीय भाषाओं अथवा अंग्रेजी की दुहाई देकर उनके वर्चस्व की घोषण करने लगे, इसका कोई ठोस-तर्कपरक कारण हमें नहीं मिलता।

अपने प्रयोग और व्यवहार के संबंधों से ही भाषा की पहचान बनती है। तभी तो हिंदी, अखिल भारतीय सम्पर्क भाषा के रूप में मान्य है परन्तु अपने जनपदीय संदर्भ में वह 'हम-वे' प्रकृति का परिचय देती है। यानी वक्ता-श्रोता-संलाप में उन दोनों के परस्पर प्राथमिक और गौण संबंधों की सूचना देती है। भाषा की जातीय अस्मिता का सटीक उदाहरण बांग्लादेश है जिसका जन्म तो धर्म के आधार पर हुआ था, पर वहां की जनता की जातीय और भाषा की अस्मिता का संबंध बंगला भाषा से जुड़ा रहा। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि भारतीय संदर्भ में प्रांतीय अस्मिता उपेक्षणीय नहीं है। हिंदी-उर्दू विवाद का दृष्टान्त लें तो मुस्लिम-वर्ग का हर व्यक्ति प्रांतीय भाषा के साथ भाषाई अस्मिता के लिए उर्दू का मुखापेक्षी रहता है।

यह सच है कि सामाजिक प्रतिबंधों से जुड़ी अंतर सांप्रदायिक जातीयता जाति और समाज की संरचना को परिभाषित करती है क्योंकि समूहगत जातीय व्यवहार अर्जित किया जाता है। जातीयता का सामाजिक रूप आनुषंगिक रूप से विशिष्ट वह वर्ग है जो अपनी सम्मिलन भावना से दूसरे सामाजिक समूह में घुल-मिल जाता है यानी पीढ़ी-दर-पीढ़ी किन्हीं सामाजिक-सांस्कृतिक परम्पराओं का पालन करता है। इसका तात्पर्य है 'हम-वे' की परम्परा पर बल देना यानी सजग समाज के सदस्यों से मिलने वाले प्राथमिक एवं गौण संबंध की सूचना। अपने शारीरिक एवं सांस्कृतिक अभिलक्षणों से यह वर्ग अल्पसंख्यक होता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि जातीयता का संबंध भी निश्चित रूप से प्रभुता और श्रेष्ठता से रहता है।

यह भी ध्यान में रखना ज़रूरी है कि मातृभाषा के साथ व्यक्ति के सामाजिक सांस्कृतिक संस्कार और उसकी सांस्कृतिक चेतना से जुड़ा पक्ष उसे संसार को देखने का एक दूसरा आयाम भी देता है। इसका मूल स्रोत जातीय इतिहास, सांस्कृतिक चेतना और साहित्यिक संस्कार में रहता है। हिंदी का जनपदीय इतिहास, सांस्कृतिक चेतना और साहित्यिक धारा उसे एक इकाई में बांधकर एक निश्चित भूमिका देते हैं। इसी से क्षेत्रीय भाषाओं में मातृभाषा होने पर भी हिंदी अपने सामाजिक संस्थागत रूप तथा जातीय संपदा के रूप में स्वीकृत होकर हिंदीतर भाषाभाषियों के लिए 'सहयोजित मातृभाषा' के रूप में मान्यता पाती है। **भाषा व्यक्ति की जातीय अस्मिता की सूचक होती है, जातीय समूह के लिए एक विशिष्ट भाषा रूप अहं होता है। अभिवादन शब्दावली के प्रचलित विविध रूपों को लें तो चरण-स्पर्श, प्रणाम, नमस्ते, राम-राम, आदाब, हैलो आदि रूपों में से किसी एक का चयन जातिगत अस्मिता को भी सूचित करेगा। जातीय अस्मिता के प्रतीक-रूप में स्वीकृत भाषा-रूप एक ओर तो व्यक्ति की निजी भाषा को लुप्त कर देता है जैसे लंदन में बसे भारतीयों के वाक्-व्यवहार का अल्पसंख्यक जातीयता के चिह्न के रूप में मान्य होना। दूसरी ओर अपनी संस्कृति की विशिष्टताओं को ध्यान में रखकर विकसित शैली रूप भी सामने आते हैं।**

भाषा-प्रयोग अपने प्रयोक्ता को सामाजिक प्रतिष्ठा भी दिलाता है। बोली-विभाजन में भी जातीयता एवं समाज से जुड़ा आधार स्पष्टतः देखा जा सकता है। वाक्-व्यवहार की विशिष्टता के सूचक यादृच्छिक अभिलक्षण मानव और जन-भाषा का विभेद स्पष्ट करते हैं। उस तरह भाषा की अपनी विशेष सार्थकता उसकी जातीय पहचान के रूप में स्वयं सिद्ध है।

जब कोई विशेष भाषा समुदाय किसी प्रमुख भाषा रूप को अपनी जातीयता की पहचान के रूप में अपनाता है, तब वह अपने भाषा कोश के विकल्पों के प्रयोग से भी अपनी जातीय अस्मिता का परिचय देता है। इसका प्रमाण है संस्कृतिगत एवं जातिगत विशिष्टताओं को ध्यान में रखकर बोलने की शैली का विकास करना। ब्रिटेन की पूर्व-प्रधानमंत्री श्रीमती मार्ग्रेट थैचर ने अधिकार-द्योतन के लिए धीरे, मंदगति से, नीची पिच में बोलने की विशिष्ट शैली को सायास अपनाया था। यह भी स्मरणीय है कि विभिन्न जातीय-सामाजिक समुदायों द्वारा प्रयुक्त भाषा रूपों में प्राप्त समरूपता सामाजिक समानता का निदर्शन नहीं करती क्योंकि यहां परस्पर-संबंध की विशिष्टता की अनुरूपता विद्यमान रहती है। ये अभिलक्षण वस्तुतः यादृच्छिक होते हैं। अतः जातीय पहचान के रूप में भाषा की विशिष्ट सार्थकता स्वयंसिद्ध है।

4. भाषा और अस्मिता (Language and Identity)

हर भाषा समुदाय की अपनी पहचान यानी अस्मिता उसकी अपनी भाषा होती है और इसका संबंध ताकत देने वाली शक्ति के साथ रहता है। अस्मिता से जुड़े कुछ प्रश्न **श्री अमर्त्य सेन ने अपनी हाल में प्रकाशित एक पुस्तक में उठाए हैं।** उनके अनुसार (i) अस्मिता का कोई अधिक्रम नहीं होता क्योंकि धर्म, राजनीति, भाषा, संस्कृति में से किसी की भी सदस्यता भाषा-समुदाय के लिए महत्वपूर्ण हो सकती है। (ii) धर्म और जाति के आधार पर बनी पहचान की सापेक्षिक महत्ता संदर्भानुसार बदलती रहती है जैसे राष्ट्रीय या मानवीय धरातल पर हिंदू-मुसलमान की पहचान की नगण्यता। (iii) अस्मिता की महत्ता विचार की महत्ता की अपेक्षा रखती है क्योंकि तथ्य की प्रकृति की अपेक्षा यहां प्रधानता तर्क की रहती है। (iv) अस्मिता चयन आर्थिक दृष्टि से अक्षम लोगों के लिए भी महत्वपूर्ण है परन्तु उसके निश्चित और व्यवस्थित नियम नहीं होते। (v) भारतीय बहुसंस्कृतिपरकता की सामासिक प्रकृति धर्मगत पहचान की महत्ता को मानकर भी उसे राष्ट्रीय अस्मिता से जोड़ने की पक्षधर नहीं है। भारतीय समाज में 'हिंदू-मुस्लिम सिख-ईसाई' का सह-अस्तित्व उसकी जाति और धर्मगत पहचान के साथ उनकी भारतीयता का ही प्रमाण है। (vi) अस्मिता का प्रश्न महत्वपूर्ण है। भारतीय संदर्भ को लें तो महात्मा गाँधी ने धर्म को ज़रूरी माना परन्तु राजनीति में उन्होंने असांप्रदायिकता और धर्म-निरपेक्षता का ही समर्थन किया। इसके विपरीत धर्म में आस्था न रखने पर भी श्री जिन्ना ने राजनीति में धर्मगत विभेद की पक्षधरता की।

भाषा की अस्मिता से जुड़े भाषाई तथ्यों को कई आधारों पर देखा जा सकता है जैसे—शारीरिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, भौगोलिक, जातीय, राष्ट्रीय आदि। भाषा की अस्मिता से जुड़ी समस्याओं के अलग होने की बात भी कही गई है। भाषा की पहचान को लिपि से जोड़कर भी देखा गया है। सामाजिक अस्मिता का प्रतिफलन समाज की भौतिक स्थिति से सम्बद्ध रंग शब्दावली में देखा जा सकता है। हर भाषा में दो-तीन से पाँच-सात रंगों के शब्द मिलते हैं परन्तु रंग द्योतक शब्दों के भाषा के अभाव का तात्पर्य रंगों के अन्तर को न समझ पाना नहीं है बल्कि भाषाई समाज द्वारा उस रंग की अलग सत्ता स्वीकार न करना है। **संदर्भ-प्रसंग का तात्पर्य औपचारिक-अनौपचारिक रूपों के प्रयोग से होता है जैसे आदरार्थ बहुवचन प्रयोग का नियम। भौगोलिक अस्मितता को लें तो जहाँ अंग्रेजी में बर्फ के लिए 'आइस' और 'स्नो' दो शब्द ही मिलते हैं परन्तु एस्कीमों भाषा में इसके लिए कई शब्द हैं।** इससे यह भी सिद्ध होता है कि तथ्यों के प्रत्यक्षीकरण की अपेक्षा भाषा के लिए यह प्रश्न ज्यादा महत्वपूर्ण है कि उसका केंद्र क्या है? वस्तुतः इससे ही तथ्यों के प्रत्यक्षीकरण में अंतर आता है।

भारत सामाजिक संस्कृति वाला एक बहुभाषिक, बहुजातीय और बहुसांस्कृतिक देश है अतः भाषा और सामाजिक अस्मिता की प्रवृत्ति पर ध्यान देना और भी आवश्यक है। यहाँ स्कूली शिक्षा के बिना भी व्यक्ति द्विभाषिक बन जाता है क्योंकि वह अपनी मातृबोली का प्रयोग (पारिवारिक संदर्भ में) और क्षेत्रीय भाषा का प्रयोग (सामाजिक संदर्भ में) करता है। शिक्षा की प्रारंभिक स्थिति से जुड़ने पर उसके भाषाई कोश में हिंदी की जानकारी भी जुड़ जाती है। इससे व्यक्ति को तीन भाषाओं की जानकारी हो जाती है। उच्च शिक्षा के संदर्भ में उसके भाषाई कोश उच्च हिंदी और अंग्रेजी का समावेश भी हो जाता है।

बोली और भाषा का स्तरीय अधिक्रम हमें भारतीय भाषा समाज के प्रयोग में दिखाई देता है। दूसरी ओर भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था स्तरीय-अधिक्रमित प्रवृत्ति भी देश के संप्रेषण तंत्र में मिलती है जिसमें अंग्रेजी, उच्च हिंदी, सामान्य हिंदी के साथ क्षेत्रीय बोली की स्थिति हम देखते हैं। ऐसी स्थिति में अपनी विविध प्रयोगधर्मी भूमिकाओं को व्यक्ति अपनी बहुभाषिक प्रवृत्ति एवं भाषाई-कोश के माध्यम से निभाता है, यह तथ्य हिंदी भाषाई समाज का एक संतुलित रूप सामने लाता है। **भारतीय संदर्भ में हिंदी-भाषी-समाज में बोली-समुच्च' की स्थिति और उनका जो 'सह-अस्तित्व' मिलता है उससे हिन्दी भाषी समाज को सामाजिक-सांस्कृतिक अर्थवत्ता मिलती है।** कारण-वंशानुक्रम की दृष्टि से भिन्न सत्ता के बावजूद हिंदी-समाज इन बोलियों का प्रयोग नित्यप्रति के व्यवहार में करता है। यही नहीं, हिंदी की जातीय-साहित्य परम्परा में विद्यापति (मैथिली), सूरदास (ब्रजभाषा) और तुलसीदास (अवधी) जैसे कवियों को स्वीकार करके यह हिंदी भाषी-समाज अपनी भाषाई अस्मिता के रूप में हिंदी को स्वीकार करता है; **हिंदी उसके लिए 'सहयोजित मातृभाषा' बनती है।**

यह स्मरणीय है कि संप्रेषण के धरातल पर हिंदी की ये सभी बोलियाँ और प्राप्त भाषा-रूप संपर्क-भाषा हिंदी के रूप में एक सूत्र में बंधकर भावात्मक संदर्भ में हिंदी की जातीय अस्मिता का ही बोध कराती हैं। **स्पष्ट है कि संस्थागत प्रतीक के रूप में भाषा हमारी सामाजिक-सांस्कृतिक अस्मिता का एक सक्षम-सशक्त माध्यम तो बनती ही है, साथ ही इस रूप में वह समाज को तोड़ने-जोड़ने की शक्ति से समन्वित होकर अपने देश के संदर्भ में 'आभ्यन्तर एकता' एवं क्षेत्र के संदर्भ में 'बाह्य-विशिष्टता' दोनों को साधती है।** हिंदी की बोलियाँ खड़ी बोली के सूत्र से जुड़कर एक ओर अपनी एकता को दर्शाती हैं तो दूसरी ओर वे विविध क्षेत्रीय समाजों की विशिष्ट इकाई के रूप में भी सिद्ध रहती हैं। यह भी स्मरणीय है कि पाकिस्तान और बंगलादेश के निर्माण में क्रमशः उर्दू और बंगला भाषाओं की अपनी भूमिका है जिससे भाषा को तोड़ने-जोड़ने वाली जीवनी शक्ति का परिचय मिलता है, तो भाषा-समुदाय के आधार पर प्रान्तों का गठन उनकी विशिष्टता का प्रमाण होता है। यहाँ भी भाषा और संस्कृति की दृष्टि से देश की एकता और अखण्डता को सुरक्षित रखकर भाषा को समरूपी और सरल बनाने की दिशा में प्रयत्नशील रहने की आवश्यकता और उपादेयता का ध्यान रखना जरूरी है।

भारतीय संदर्भ में भाषागत स्थिति की विडम्बना यह है कि **व्यवहार में हिंदी देश की संपर्क भाषा और राष्ट्रभाषा के रूप में सिद्ध है। पर उसे प्रशासनिक मान्यता नहीं मिली है। संविधान में 'देवनागरी' लिपि वाली हिंदी 'राजभाषा' है और इससे उसके राजनीतिक सफलता का आधार होने का तथ्य ही उभरता है।** यह देश की विडम्बना ही कही जाएगी कि हिंदी भारत की सामाजिक-सांस्कृतिक एकता का आधार होने पर भी राष्ट्रभाषा के

रूप में देश की जातीय प्रामाणिकता एवं सामाजिक अस्मिता की भाषा नहीं बन सकी है। इसके मूल में हिंदी को अंग्रेजी की स्थानापन्न भाषा के रूप में प्रस्तुत करने के साथ राष्ट्रभाषा एवं राजभाषा को एक द्वन्द्व के रूप में उभारने की प्रक्रिया हमारी सबसे बड़ी प्रशासनिक भूल कही जा सकती है। **हम यह नहीं भूल सकते कि आज के संचार-माध्यम के युग में भाषा जनहित का विषय भी बन गई है, हमारी राष्ट्रीय अस्मिता का प्रमुख तत्व होने के साथ ही वह राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया का विशेष-विषय भी बन जाती है। इसमें संदेह नहीं है कि संस्थागत प्रतीक के रूप में भाषा विविध आयामों को समेटती हुई एक अखंड शक्ति बनकर हमारे सामने आती है और युगीन आवश्यकताओं की दृष्टि से भाषा के लिए अनुकूलन करना भी जरूरी होता है।**

साथ-ही-साथ परन्तु हमें यह भी याद रखना होगा कि अपनी विरासत को सुरक्षित रखकर ही किसी भी भाषा का वह सतत विकास संभव है जो उसे समृद्ध और स्थापित करता है। सामाजिक अस्मिता की यथार्थ एवं परिचायक शक्ति के रूप में भाषा की शक्ति और अक्षमता का बोध हमें अपनी भाषा के माध्यम से ही होता है, इसमें संदेह नहीं है। **अपनी संस्कृति और परम्परा से जुड़कर ही भाषा अपने भाषाभाषियों की अस्मिता की परिचायक बनने के साथ-साथ अपनी निजी पहचान के रूप में भी अपनी सार्थकता का स्वयंसिद्ध प्रमाण बनती है।**

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि **भाषा अस्मिता और जातीयता से जुड़कर तथा वर्ग और लिंगभेद की परिचायक बनकर अपनी शक्ति और सीमा दोनों का ही उद्घाटन करती है। युगानुरूप अनुकूलन भी भाषा के लिए जरूरी होता है, परन्तु अपनी परम्परा और विरासत का संरक्षण भी भाषा के लिए अवहेलनीय नहीं होता।** भाषा की अखण्डता और शक्ति जीवन-जगत के विविध आयामों को समेटकर उसकी सही समझ के साथ जुड़ी है। तभी वह संस्थागत प्रतीक बन पाती है। समाज भाषा विज्ञान की उपादेयता द्वारा भाषा अध्ययन की पूर्णता की साधना ही हमारा लक्ष्य होना चाहिए, यही हमारे लिए सही दिशा है।

सहायक ग्रंथ सूची

हिंदी

1. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव 1995, हिंदी भाषा संरचना के आयाम प्रकाशन
2. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव 1997, भाषा विज्ञान : सैद्धान्तिक चिंतन प्रकाशन
3. रामविलास शर्मा 2002, भाषा और समाज प्रकाशन
4. मुकुंद द्विवेदी 2001, भारतीय भाषाएँ और राष्ट्रीय अस्मिता प्रकाशन
5. हजारी प्रसाद द्विवेदी 1998, भाषा साहित्य और देश, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
6. श्रीवास्तव और सहाय, 1976, हिंदी का सामाजिक संदर्भ प्रकाशन
7. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, 1994, हिंदी भाषा का समाजशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
8. विमलेशकांति वर्मा और डॉ. मालती 2007, भाषा, साहित्य और संस्कृति, ओरिएंट लॉग मैन्, नई दिल्ली

अंग्रेजी

1. अलिस ज़हबाना एस.टी. 1970, द मार्टनाइज़ेशन ऑफ़ लैंग्वेज इन हिस्टोरिकल एण्ड सोशियो-कल्चर पर्सपेक्टिव,
2. बर्नस्टीन बी., 1972, सोशल क्लास, लैंग्वेज एंड सोशलाइज़ेशन, लैंग्वेज एण्ड सोशल कान्टेक्स्ट, पेंगुइन
3. ब्राइट, बी. (सं.) 1966, सोशियो लिंग्विस्टिक्स, द हेग, मूतोन
4. फिशमैन, आई.ए. 1965, हू स्पीक्स वॉट लैंग्वेज टु हूम एण्ड व्हेन,
5. लेबाव, डब्ल्यू, 1972, सोशियो लिंग्विस्टिक्स पैटर्नस्, फिलाडेल्फिया
6. पंडित, पी.वी., 1972, इंडिया एज़ ए लिंग्विस्टिक एरिया, पूना।
7. गम्पर्ज़ एंड डैलहाइम्स (सं.), 1972, डायरेक्शन्स इन सोशियो लिंग्विस्टिक्स, द एथनोग्राफी आफ़ कम्प्यूनिकेशन्स, होस्ट, राइनहार्ट एंड विन्सटन्स।
8. गीता, वी. 2002, थियोराइज़िंग फेमिनिज़्म : जेंडर, स्त्री कलकत्ता

(ग) भाषा-प्रयोग

प्रो. कृष्णकुमार गोस्वामी
पूर्व प्रोफेसर एवं क्षेत्रीय निदेशक,
केन्द्रीय हिंदी संस्थान (भारत सरकार)

भाषा कोई अमूर्त संकल्पना नहीं अपितु सामाजिक व्यवहार की वस्तु है। समाज में इसके प्रयोग में आने से कई रूप उभरने लगते हैं, जिससे भाषा भेद या भाषा प्रकार झलकने लगते हैं। वास्तव में भाषा अपने आप में समरूपी होती है, किंतु प्रयोग में आने से वह विषमरूपी हो जाती है। भाषा की यह समरूपता प्रारंभ में रहती है, किंतु इसके विकास के समय इसे विभिन्न संदर्भों और स्थितियों से गुजरना पड़ता है तो वह बाह्य रूप से विषमरूप धारण करने लगती है, हांलाकि आंतरिक संरचना की दृष्टि से यह समरूपी ही होती है। इसका कारण यह है कि मनुष्य का मस्तिष्क इतना सृजनशील है कि वह विभिन्न संदर्भों, स्थितियों, प्रसंगों, प्रयोजनों और उद्देश्यों में अधिकाधिक भाषा-रूपों का प्रस्फुटन करता है। यही विभिन्न भाषा-रूप अपने आप में वैविध्यपूर्ण होते हैं।

यह विविधता और विषमता भाषा के विकास-क्रम के अंतर्गत किसी काल-विशेष, स्थान-विशेष, व्यक्ति-विशेष, विधा-विशेष, प्रयुक्ति-विशेष आदि आयामों या संदर्भों में दिखाई देती है। कई बार भाषा-भाषी समुदायों का एक वर्ग किसी एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा कर बस जाता है तो उस स्थान पर कई भाषाओं का प्रयोग होने लगता है। इससे व्यक्ति और समाज द्विभाषी अथवा बहुभाषी हो जाता है। इसी आधार पर यहाँ भाषा का विकास, भाषा के विविध प्रयोग और द्विभाषिकता अथवा बहुभाषिकता के परिप्रेक्ष्य में विवेचन किया जा रहा है।

1. भाषा का विकास

विश्व में इस समय लगभग सात हजार भाषाएँ बोली जाती हैं किंतु प्रश्न उठता है कि ये आई कहाँ से, इनका विकास कैसे हुआ और इनमें परिवर्तन कैसे हुआ? मानव समाज को अतीत से आज तक भाषा विकास में परिवर्तन करने की आवश्यकता कैसे पड़ी? इस संबंध में अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। बेबल की एक कथा है कि प्रारंभ में मानव एक समान भाषा बोलता था। उसने स्वर्ग लोक तक जाने के लिए एक मीनार बनाने का निर्णय लिया। ईश्वर को उनकी इस योजना में अहंकार दिखाई दिया। अंत में उसने उनकी योजना को ध्वस्त कर एक भाषा को विभिन्न भाषाओं में परिवर्तित कर दिया। वे लोग इधर-उधर बिखर गए और अपनी-अपनी भाषा में बोलने लगे। यह एक लोककिंवदंती और जनश्रुति है, किंतु इससे यह बात अवश्य स्पष्ट उभरकर आती है कि जैसे मनुष्य को जल और भोजन की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार उसे भाषा की भी आवश्यकता होती है। **भाषा से वह अपने मन के भावों और विचारों का संप्रेषण करता है**, किंतु लाखों वर्ष पूर्व मानव के जन्म के साथ जन्मी भाषा का विकास किन परिस्थितियों और कारणों से हुआ, इस विषय पर कई वर्षों तक विचार-विमर्श होता रहा, किंतु कोई परिणाम नहीं निकला। अतः इसके समाधान में निरंतर असफलता का सामना करना पड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि इस विषय को भाषाविज्ञान से हटा दिया गया।

भाषा के विकास से तात्पर्य है भाषा परिवर्तन

भाषा की उत्पत्ति की अपेक्षा उसकी विकास प्रक्रिया पर विचार किया गया। वास्तव में भाषा विभिन्न कालों और विभिन्न परिस्थितियों की परिणति मानी गई है। जिस प्रकार मनुष्य के आकार-प्रकार में निरंतर परिवर्तन होता रहा है, उसी प्रकार उसके व्यवहार में भी परिवर्तन होता रहता है। यह निरंतर परिवर्तन ही एक प्रकार का विकास

है। भाषा में भी परिवर्तन होता रहता है और वह इस परिवर्तन से अप्रभावित नहीं रह पाती। एक ही भाषा के प्राचीन रूप से आज की भाषा तक के निरंतर पड़ावों को देखा जाए तो यह बात स्वयं स्पष्ट हो जाएगी कि समय-समय पर भाषा में परिवर्तन होता रहा है। यह परिवर्तन नहीं है, वरन् भाषा का विकास है और उसमें नए-नए रूप निरंतर अपना स्थान बनाते रहे हैं।

जीवंत भाषा अर्थात् व्यवहार में लाई जाने वाली भाषा में परिवर्तन होगा और यह परिवर्तन भाषा के विकास की यात्रा का अंग होगा। परिवर्तन अथवा विकास भाषा की प्रकृति का अनिवार्य अंग है। यह परिवर्तन भाषा का दोष नहीं, गुण है, इसीलिए परिवर्तन की इस प्रक्रिया को भाषा का विकास कहा जाता है।

भाषा परिवर्तन का अर्थ है—संरचना परिवर्तन

किसी भाषा में किसी अन्य भाषा से ग्रहण किए गए नए शब्दों को मात्र भाषा परिवर्तन नहीं कहते। शब्दों के ग्रहण की यह प्रक्रिया गौण मानी गई है, क्योंकि इनसे भाषा में मूल परिवर्तन नहीं होता। **भाषा के परिवर्तन से अभिप्राय उसकी संरचना में परिवर्तन से है। वास्तव में ध्वन्यात्मक, व्याकरणिक और अर्थपरक संरचना में परिवर्तन ही संरचनात्मक परिवर्तन है, जो भाषा के विकास का द्योतक है।**

भाषा के विकास में एक साथ दो शक्तियाँ कार्य करती हैं: एक, **परिवर्तन-शक्ति** जो भाषा में परिवर्तन लाने का प्रयास करती है। दूसरी, **स्थिरता-शक्ति** जो भाषा को स्थायित्व प्रदान करने के लिए निरंतर क्रियाशील रहती है। इन दोनों के बीच में भाषा में संतुलन रहता है। वास्तव में, स्थिरता को क्रियाशीलता के कारण भाषा-परिवर्तन की गति को समय के एक बिन्दु पर इंगित नहीं किया जा सकता। यह परिवर्तन कभी-कभी तो दो-तीन पीढ़ियों तक दिखाई नहीं देता।

परिवर्तन गति के नियामक तत्त्व

भाषा-परिवर्तन की गति सदा एक समान नहीं रहती; कभी तो यह तीव्र हो जाती है और कभी धीमी। यह सब कुछ उसकी आंतरिक संरचना और बाह्य प्रभाव पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए; एक भाषा-भाषी समुदाय छोटा है। वह एक स्थान पर रह रहा है, भौगोलिक दृष्टि से संगठित है और उस पर बाहरी प्रभाव पड़ना संभव नहीं, क्योंकि अन्य भाषा-भाषियों से उसका संबंध या तो नहीं रहता या बहुत कम रहता है। **इसलिए उसके भाषा-परिवर्तन की गति काफी धीमी रहती है तथा उस भाषा में हुए परिवर्तनों का अनुभव शताब्दियों बाद हो पाता है।** इसके विपरीत यदि एक भाषा-समुदाय भौगोलिक दृष्टि से बिखरा हुआ है, दूसरी भाषा के प्रयोक्ताओं के साथ उसका अधिक संपर्क है तो उसकी भाषा में परिवर्तन की गति तीव्र होती है। कुछ ही वर्षों में यह गति परिलक्षित हो जाती है। यही नहीं, **विदेशी आक्रमण, राज्य-परिवर्तन, सांस्कृतिक एवं धार्मिक प्रभाव** आदि भी कुछ ऐसे तत्त्व हैं, **जिनसे भाषा-परिवर्तन की गति तीव्र हो जाती है** और उन्हें कुछ ही वर्षों में अनुभव किया जा सकता है।

इस प्रकार आंतरिक संरचना के साथ-साथ **बाह्य प्रभाव, दूसरी भाषा से संबंध, विदेशी आक्रमण, राज्य-परिवर्तन, स्थानांतरण, सांस्कृतिक एवं धार्मिक प्रभाव** आदि ऐसे तत्त्व हैं जो भाषा की गति के नियामक तत्त्व के रूप में कार्य करते हैं।

भाषा परिवर्तन के प्रकार

मानव में परिवर्तन की परिणति जिस प्रकार उसकी संपूर्ण संरचना अर्थात् उसके अंगों की संरचना के परिवर्तन से होती है, उसी प्रकार भाषा में परिवर्तन उसकी संपूर्ण संरचना अर्थात् उसके अंगों से होता है। दूसरे शब्दों में, भाषा के परिवर्तन का परिणाम उसके सभी अंगों—स्वन (ध्वनि), रूप, शब्द, वाक्य और अर्थ पर पड़ता है। **इस दृष्टि से भाषा-परिवर्तन का स्वरूप होगा—स्वन-परिवर्तन, रूप-परिवर्तन, शब्द-परिवर्तन, वाक्य-परिवर्तन और अर्थ-परिवर्तन।**

(क) स्वन-परिवर्तन : स्वन-परिवर्तन का संबंध स्वनों अर्थात् ध्वनियों से है। इनमें मुख्य रूप से निम्नलिखित परिवर्तन होते हैं;

(अ) स्वनों का हास : स्वनों के उच्चारण या उनकी अनुपयुक्तता के कारण कुछ स्वनों को या तो हम छोड़ते हैं या उसके मूल उच्चारण का लोप हो जाता है। उदाहरण के लिए; वैदिक स्वन 'ळ' अब विलुप्त हो गया है। संस्कृत स्वन मूर्धन्य 'ष्' का उच्चारण हम छोड़ चुके हैं और उसके स्थान पर 'श' का उच्चारण करते हैं।

(आ) स्वनों का विकास : दूसरी भाषा के प्रभाव से हम आवश्यकतानुसार अनेक नए स्वनों (ध्वनियों) को ग्रहण कर लेते हैं। अरबी-फारसी शब्दों के प्रभाव से क, ख, ग, ज, फ़ और अंग्रेजी 'ऑ' आदि अनेक नए स्वनों का विकास हिन्दी में हो चुका है।

(इ) स्वनों के उच्चारण में अंतर : समय के अंतराल के साथ-साथ स्वनों के उच्चारण में भी अंतर आ जाता है; जैसे- वैदिक संस्कृत संयुक्त स्वर ऐ, औ का उच्चारण हिन्दी में क्रमशः अई, अउ जैसा हो गया है, जबकि वैदिक संस्कृत में इनका उच्चारण क्रमशः आई, आउ था।

(ई) स्वनों के प्रयोग की स्थिति में परिवर्तन : अपभ्रंश में 'ण' स्वन का प्रारंभ में प्रयोग हो सकता था जैसे-'णाच', किन्तु हिन्दी में 'ण्' स्वन का प्रारंभ में प्रयोग नहीं होता।

(ख) रूप-परिवर्तन : रूप-परिवर्तन से भाषा की रूप-रचना में अंतर आ जाना स्वाभाविक है। संस्कृत में शब्दों की रूप-रचना इसका प्रमाण है। संस्कृत में तीन वचनों में विभक्तियुक्त रूपों का निर्माण होता था। हिन्दी में दो वचनों में रूप बनते हैं; साथ ही कारक-विभक्तियाँ अलग से प्रयुक्त होने लगीं। उनका रूप भी बदल गया और संस्कृत के आठ कारकों के स्थान पर हिन्दी में छः कारकों की स्थिति रह गई है।

(ग) शब्द-परिवर्तन : इस परिवर्तन के परिणामस्वरूप अनेक पुराने शब्दों का प्रयोग समाप्त हो जाता है, भाषा में अनेक नए शब्द प्रयुक्त होने लगते हैं। मापवाचक सेर, पाव, छटाँक के स्थान पर किलो ग्राम /लीटर जैसे शब्दों का प्रचलन इसके उदाहरण हैं। दूसरी भाषाओं से रेल, मोटर, कार, पेट्रोल, कमीज, रिक्शा आदि गृहीत शब्द भी इसी परिवर्तन के परिणाम हैं। ये सभ्यता और संस्कृति के प्रभाव की परिणति हैं।

(घ) वाक्य-परिवर्तन : वाक्य-परिवर्तन के अंतर्गत वाक्य-रचना में होने वाले परिवर्तनों को गिना जाता है। संस्कृत में वाक्यों के शब्दों के स्थान-परिवर्तन से कोई प्रभाव नहीं पड़ता, किन्तु हिन्दी में अर्थ ही बदल जाता है। इसलिए हिन्दी के वाक्य की एक संरचना है, जिसके हर शब्दों का स्थान नियत है। उसी के अनुसार वाक्य की रचना की जा सकती है। अंग्रेजी की वाक्य-रचना ने भी हिन्दी वाक्य-रचना को प्रभावित किया। उसके विराम, कॉमा, कोलन आदि चिह्नों का प्रयोग धड़ल्ले से हो रहा है और सामान्य वाक्य के स्थान पर बड़े-बड़े वाक्यों का निर्माण हो रहा है।

(ङ) अर्थ-परिवर्तन : अर्थ-परिवर्तन से शब्दों का अर्थ बदल जाता है। 'साहसी' शब्द कभी बुरे कामों में साहस प्रदर्शन के लिए प्रयुक्त होता था। अब यह बुरे और अच्छे दोनों प्रकार के कार्यों के लिए प्रयुक्त होता है। 'कुशल' भी इसी प्रकार का शब्द है, जिसका प्राचीन अर्थ 'कुश' की चयन प्रक्रिया और उसे उखाड़ने की कला में प्रवीण होना था। किन्तु आज यह शब्द प्रत्येक कार्य में 'प्रवीणता' के लिए प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार के अनेक शब्द हैं, जिनका अर्थ परिवर्तन स्वभावतः हो चुका है।

भाषा : परिवर्तन के कारण

भाषा एक संश्लिष्ट संरचना है, जिसमें एक से अधिक संरचनाएँ एक साथ जुड़ी हुई हैं और क्रियाशील रहती हैं। ध्वनि-परिवर्तन का संबंध उच्चारण अवयवों से है और अर्थ-परिवर्तन का संबंध मानसिक अवस्था से है और शब्दावली के परिवर्तन के कारण सामाजिक परिस्थितियाँ हैं। वस्तुतः एक ही परिवर्तन के अनेक कारण होते हैं। इसलिए यह कहना कठिन हो जाएगा कि अमुक परिवर्तन का कारण अमुक है।

भाषा-परिवर्तन के कारणों को **बाह्य एवं आभ्यंतर (आंतरिक) वर्ग** के अंतर्गत रखकर यहाँ विवेचन किया जा रहा है—

(i) बाह्य कारण

(क) भौगोलिक प्रभाव : वाइनरिख, मेयर बेन्फी, कोलिन्स जैसे विदेशी भाषाविज्ञानियों ने भाषा-परिवर्तन में भौगोलिक प्रभाव को महत्वपूर्ण माना है। उनके मतानुसार जलवायु का प्रभाव मनुष्य के शारीरिक गठन पर ही नहीं, उसके चरित्र और ध्वनि पर भी पड़ता है। यद्यपि एक अन्य विद्वान येस्पर्सन ने इस सिद्धांत का खंडन किया है, किंतु यह पूर्णतया अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यूरोपीय भाषा-भाषियों से प्, ट्, त्, क् जैसी हिन्दी की कुछ ध्वनियों का सही उच्चारण करा पाना कठिन हो जाता है। वे शब्दों के प्रारंभ में इन अल्पप्राण ध्वनियों का उच्चारण महाप्राण ध्वनि के रूप में करते हैं। 'पिन', का 'फिन'; 'कम' का 'खम' जैसा उच्चारण निश्चय ही उनके उच्चारण अवयव मुँह को भीतर कंठ, तालु, जीम, दाँत होंठ आदि अंग जिनसे किसी ध्वनि का उच्चारण करने में सहायता मिलती है की भिन्नता का परिणाम नहीं, अपितु भौगोलिक या जलवायु का ही प्रभाव है, क्योंकि मध्य या अंत में प्रयुक्त होने पर इन्हीं ध्वनियों को वे सहज रूप से उच्चरित कर लेते हैं।

(ख) ऐतिहासिक प्रभाव : भाषा के परिवर्तन पर इतिहास का बहुत स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। ऐतिहासिक कारणों में विदेशी आक्रमण, राजनीतिक विप्लव, व्यापारिक संबंध आदि आते हैं। हिन्दी में अरबी, फारसी, तुर्की, अंग्रेजी आदि के सैकड़ों शब्द आ गए हैं। इनमें कुछ तो इतने सहज और स्वाभाविक बन गए हैं तथा इतने रच-पच गए हैं कि उन्हें कई बार विदेशी कह पाना कठिन हो गया है। इन शब्दों से ध्वनि, शब्द एवं वाक्य-संरचना सभी प्रभावित हुए हैं। हिन्दी में **क़ ख़ ग़ ज़ फ़** आदि ध्वनियाँ तथा कुर्ता, हवा, किताब, रिक्शा, बस, विटामिन आदि शब्द समाहित हो गए हैं। दक्षिण भारत से व्यापारिक प्रभाव के परिणामस्वरूप टवर्ग ध्वनियाँ तथा अनेक शब्द द्रविड़ परिवार की भाषाओं से हिन्दी में आ गए हैं। इस परिवर्तन से शब्दों की रचना ही नहीं, वाक्य एवं शब्दों के बहुवचन निर्माण की पद्धति भी प्रभावित होता है। अंग्रेजी भाषा में भी ग्रीक, लैटिन और फ्रांसीसी शब्दों के अनेक शब्द समाहित हो गए हैं।

(ग) सांस्कृतिक प्रभाव : भाषा के विकास में सांस्कृतिक आन्दोलन भी अपना प्रभाव डालते हैं। सांस्कृतिक नवजागरण से जहाँ अनेक देश और अनेक जातियाँ रूढ़ियों और परंपराओं को छोड़कर नवीनता अपनाती हैं, उनसे भाषा भी अछूती नहीं रह पाती। इससे भाषा का संस्कार होता है। इस संस्कार के कारण भाषा में आवश्यकतानुसार अन्य भाषाओं के अनेक शब्दों और ध्वनियों का आगमन हो जाता है।

(घ) वैज्ञानिक प्रभाव : वैज्ञानिक अनुसंधान से अनेक नई वस्तुओं और उपकरणों का आविष्कार होता है। इन वस्तुओं और उपकरण के नामकरण से जो अनेक नए शब्द गढ़ जाते हैं, उनसे भाषा की संपदा में वृद्धि होती है। भाषा के विकास में ये तत्त्व महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

(ii) आभ्यंतर (आंतरिक) कारण

(क) मुख-सुख या प्रयत्न लाघव : मनुष्य की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह हमेशा प्रत्येक कार्य में सुविधा और सरलता की ओर अग्रसर होता है। भाषा एक उच्चारण प्रक्रिया है, जिसका संबंध मनुष्य के अंग-विशेष मुख से है। इसलिए उसके उच्चारण में मुख की सुविधा अधिक कारगर है। मनुष्य अपने उच्चारण में उन्हीं ध्वनियों का प्रयोग करता है, जिनमें उसका कम समय लगे और मुख को कम कसरत करनी पड़े। उसकी इस प्रक्रिया से भाषा भी प्रभावित होती है। वह कठिन ध्वनियों के उच्चारण छोड़ता जाता है, कठिन शब्दों के उच्चारण को सरल बनाता जाता है तथा लंबे वाक्यों को भी छोटा बनाता जाता है। परिणामस्वरूप, भाषा में होने वाले परिवर्तनों का विवेचन निम्नलिखित रूपों में किया जा सकता है :

(अ) आगम-शब्द के प्रारंभ में प्रायः ऐसे संयुक्ताक्षर आ जाते हैं, जिनका उच्चारण आसानी से नहीं हो पाता।

अतः किसी स्वर की सहायता लेकर उनका उच्चारण करना अधिक सुविधाजनक हो जाता है। **दूसरे शब्दों में, शब्द के आदि, मध्य या अंत में उच्चारण की सुविधा से आई ध्वनि की प्रवृत्ति को आगम कहते हैं। आगम स्वर और व्यंजनों दोनों का हो सकता है।** स्थान-भेद से आगम के तीन भेद हैं—आदि, मध्य और अंत्य।

(i) स्वर के प्रारंभ में स्वर का आगम **स्वरागम** है। अस्थान, इस्कूल, अस्पष्ट, अस्तुति, अस्खलित आदि शब्द स्वरागम के उदाहरण हैं। (ii) कहीं-कहीं स्वर शब्द के मध्य में भी आ जाता है, उसे **मध्य स्वरागम** कहते हैं; जैसे— धर्म ~ धरम; कर्म ~ करम; पूर्व ~ पूरब। व्यंजन का आगम भी होता है; जैसे - शाप ~ सराप; मंझि (मुखिया) ~ मपंझि (मुखियों)। (iii) शब्द के अंत में स्वर का आगम **अंत्यस्वरागम** कहलाता है; जैसे—राम > रामा, कृष्ण > कृष्णा।

(आ) **लोप**—इस स्थिति में दो संयुक्त ध्वनियों के उच्चारण में कठिनाई होने पर उच्चारण सुविधा की दृष्टि से उनमें से एक का लोप हो जाता है; जैसे - स्थल ~ थल; दुग्ध ~ दूध; श्मशान ~ मसान; स्वर्ग ~ सुरग।

(इ) **विकार**—उच्चारण की सुविधा के लिए एक ध्वनि का दूसरी ध्वनि में परिवर्तित हो जाना विकार कहलाता है; जैसे - कृष्ण ~ कान्ह; यहाँ श् का ह, ण का न हो गया है। इसी प्रकार मेघ ~ मेह; शाक ~ साग; स्तन ~ थन; हस्त ~ हाथ शब्द विकार के उदाहरण हैं।

(ई) **विपर्यय**—विपर्यय का अर्थ है—उलटा। कभी-कभी उच्चारण में शब्दों के वर्णक्रम उलट जाते हैं। इस स्थिति को विपर्यय कहते हैं। विपर्यय होने के दो मुख्य कारण हैं—पहला, बोलने में तीव्रता, दूसरा, अपूर्ण या भ्रांत श्रवण। पहली बार सुना गया शब्द कभी-कभी अधूरे रूप में ही मन में बैठ जाता है और भविष्य में वह उसी रूप में उच्चरित होता है; जैसे— लखनऊ ~ नखलऊ; डूबना ~ बूड़ना; पिशाच ~ पिचास आदि विपर्यय के प्रमुख उदाहरण हैं।

(उ) **समीकरण**—जब दो भिन्न ध्वनियाँ पास रहने से सम हो जाती हैं तो उसे समीकरण कहते हैं। समीकरण के दो भेद हैं—(1) पुरोगामी समीकरण और (2) पश्चगामी समीकरण; जैसे - वार्ता ~ बात; दूर्वा ~ दूबा। जब पूर्ववर्ती ध्वनि परवर्ती ध्वनि के समान हो जाती है तो उसे पुरोगामी समीकरण कहते हैं। जब परवर्ती ध्वनि पूर्ववर्ती ध्वनि के समान हो जाती है तो उसे पश्चगामी समीकरण कहते हैं; जैसे - अग्नि ~ आग; पुत्र ~ पूत; पत्र ~ पात; रात्रि ~ रात।

संस्कृत और हिन्दी के संधि नियम समीकरण के ही रूप-भेद के रूप में स्वीकार किए जाते हैं।

(ऊ) **विषमीकरण**—उच्चारण की सुविधा की दृष्टि से एक ही प्रकार की दो निकटतम ध्वनियों में से एक को परिवर्तित कर देने की प्रक्रिया विषमीकरण कहलाती है; जैसे— काक ~ काग; कंकण ~ कंगन; प्रकट ~ प्रगत।

(ए) **स्वर भक्ति**—संयुक्त व्यंजनों के उच्चारण में होने वाली असुविधा को दूर करने के लिए जब उनके बीच कोई स्वर रख दिया जाता है तो उसे स्वर भक्ति अर्थात् स्वर को बाँट देना या अलग कर देना कहते हैं। स्वर के आ जाने से व्यंजनों का संयोग मिट जाता है और उच्चारण सुविधाजनक हो जाता है। स्वर भक्ति मूलतः एक प्रकार का स्वरागम ही है; जिसका स्थान शब्द के बीच में हुआ करता है; जैसे— व्रत ~ बरत; मूर्ति ~ मूरत; कर्म ~ करम; दर्द ~ दरद।

(क) **स्वन यंत्र की भिन्नता** : मनुष्य के बाह्य अंग-प्रत्यंगों की भाँति ही प्रत्येक व्यक्ति का ध्वनि यंत्र दूसरे व्यक्ति से भिन्न होता है। इसलिए उच्चारण में अंतर आ जाना स्वाभाविक होता है और उच्चारण का यह अंतर भाषा के परिवर्तन का एक कारण बन जाता है।

(ख) **अनुकरण की अपूर्णता** : अनुकरण की अपूर्णता का प्रमुख कारण आंगिक संघटन तथा मानसिक संघटन की भिन्नता है। हर व्यक्ति का शारीरिक संघटन समान नहीं होता। उच्चारण-अवयव की विभिन्नता या अज्ञानता आदि के कारण अनुकरण को अपूर्ण बना देता है; जैसे - गार्ड ~ गाड, पोस्टकार्ड ~ पोसकाट, कलक्टर ~ कलट्टर।

(ग) **जातीय मनोवृत्ति** : कुछ विद्वानों के मतानुसार जातीय मनोवृत्ति के कारण भी भाषा में परिवर्तन होता है। जाट, गूजरों की मनोवृत्ति के कारण उनकी भाषा में अधिक कर्कशता होती है और बनियों की भाषा में विशेष प्रकार की शिथिलता दिखाई देती है। फ्रांसीसी भाषा की कोमलता और जर्मनी भाषा की परुषता भी इसके उदाहरण हैं।

(घ) **सजगता** : भाषा का विकास प्रबुद्ध या शिक्षित प्रयोक्ता की सजगता के कारण भी होता है। कई बार कलात्मक, साहित्यिक या सांस्कृतिक शब्दावली विशिष्ट समाज की आकांक्षाओं को ध्यान में रखकर अथवा मूल भाषागत भाव को यथावत् अभिव्यक्त करने के लिए गढ़े जाते हैं; अलेक्जेंडर ~ अलक्षेन्द्र, मैक्समूलर ~ मोक्षमूलर, एक्डेमी ~ अकादमी; कोमेडी ~ कामदी; मिथ ~ मिथक जैसे शब्द सजगता के परिणाम हैं।

इस प्रकार विभिन्न आंगिक एवं मानसिक संघटन तथा अज्ञान के कारण ध्वनियों का सम्यक् अनुकरण नहीं हो पाता, जिसके चलते भाषा में परिवर्तन हुआ करता है। वस्तुतः अपूर्ण उच्चारण के लिए वक्ता और श्रोता दोनों इस परिवर्तन के उत्तरदायी होते हैं। यही परिवर्तन भाषा के विकास में सहायक सिद्ध होते हैं।

2. भाषा के विविध प्रयोग

भाषा के स्वरूप पर विचार करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भाषा के अनेक रूप होते हैं। भौगोलिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, शैक्षिक, मानक आदि स्तर-भेद के कारण भाषा के विविध रूप दिखाई देते हैं। इन भाषा-रूपों को **‘विकल्पन’** अथवा **‘भाषा-भेद’** भी कहा जाता है। भौगोलिक आधार पर एक क्षेत्र-विशेष के अधिकतर लोगों द्वारा बोली जाने वाली उस क्षेत्र की भाषा को ‘बोली’ कहा जाता है। वास्तव में व्यक्ति-विशेष द्वारा बोली जाने वाली **‘व्यक्ति बोली’** होती है। अनेक व्यक्ति-बोलियाँ मिलकर एक स्थानीय बोली का निर्माण करती हैं। एकाधिक स्थानीय बोलियाँ मिलकर **‘उप बोलियाँ’** बनती हैं। अनेक उप बोलियाँ मिलकर एक **‘बोली’** बनाती हैं। कई क्षेत्रों की बोलियाँ मिलकर एक **‘भाषा’** का निर्माण करती हैं। इनकी प्रकृति ध्वनि और शब्द दोनों ही स्तरों पर देखी जा सकती है। ध्वनि के स्तर पर एक क्षेत्र में हिन्दी भाषी ‘पैसा’, ‘कैसा’ बोलता है तो दूसरे क्षेत्र में ‘पइसा’, ‘कइसा’ का प्रयोग करता है। इसी प्रकार एक स्थान पर ‘औरत’ और दूसरे स्थान पर ‘अउरत’ बोला जाता है। एक क्षेत्र में ‘घिया, अरबी, तोरी या तोरई, काशीफल या सीताफल’ बोला जाता है तो दूसरे क्षेत्र में उनके स्थान पर क्रमशः ‘लौकी, घुइयाँ, निनुआ, कुम्हड़ा या कोहड़ा’ बोला जाता है। विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक भेदों के कारण ‘आप आइए, तुम आओ’ आदि भाषा-रूप मिल जाते हैं।

ऐतिहासिक स्तर पर ‘मूल भाषा’ होती है, जिसके विकसित रूप नवीनतम भाषाओं के रूप में दृष्टिगत होते हैं। ‘ग्रीक’ और ‘संस्कृत’ मूल भाषा कहलाते हैं तो ‘लेटिन’ और ‘प्राकृत’, पालि अपभ्रंश मध्यकालीन भाषा और अंग्रेजी, फ्रांसीसी, हिन्दी, मराठी, बंगला आदि आधुनिक भाषा के नाम से जाने जाते हैं। **शैक्षिक आधार पर शिक्षित, अर्धशिक्षित और अशिक्षित की भाषा में अंतर पाया जाता है। ‘मानकता’ के आधार पर मानक भाषा, मानकेतर भाषा और अमानक भाषा अपभ्रष्ट के रूप में दिखाई देते हैं।** इसी प्रकार प्रयोग के आधार पर राष्ट्रभाषा, राजभाषा, साहित्यिक भाषा, व्यावसायिक भाषा आदि कई रूप परिलक्षित होते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर भाषा के कुछ रूपों का यहाँ अध्ययन किया जा रहा है—

(i) **बोली** : भौगोलिक दृष्टि से भाषा का क्षेत्रीय-प्रभेदक रूप बोली है। इसे एक निश्चित शब्द-समूह और व्याकरणिक संरचना द्वारा पहचाना जा सकता है। जब भी किसी भाषा-भाषी समुदाय की संख्या में वृद्धि होगी, उसमें बोली का रूप स्वाभाविक रूप से दिखाई पड़ता है जो इसको विविधता प्रदान करता है। भाषा की यह विविधता जब उसके प्रयोक्ताओं के भौगोलिक क्षेत्र अथवा स्थान-विशेष का परिणाम होती है तब वह क्षेत्रीय बोली कहलाती है।

भाषा और बोली में अंतर: भाषाविज्ञान की दृष्टि से भाषा और बोली में कोई अंतर नहीं माना जाता, क्योंकि बोली का भी अपना स्वतंत्र और स्वनिष्ठ व्याकरण होता है। इस दृष्टि से मैथिली, भोजपुरी, ब्रज, अवधी, खड़ीबोली, मारवाड़ी, पहाड़ी आदि अपनी व्यवस्था में अलग-अलग भाषाएँ हैं। **भाषा और बोली के अंतर पर विचार करते हुए विदेशी विद्वान जार्ज ग्रियर्सन ने कहा है कि इन दोनों में कोई निश्चित विभाजक रेखा खींच पाना संभव नहीं है, क्योंकि इनमें वही संबंध है जो पहाड़ तथा पहाड़ी में है।** इसलिए प्रकृति-तत्त्व की दृष्टि से भाषा और बोली में अंतर नहीं होता, क्योंकि समय के अंतराल से एक बोली भाषा बन जाती है और कभी भाषा कालांतर में बोली ही रह जाती है।

किंतु समाजभाषाविज्ञान की दृष्टि से भाषा अधिरोपित होती है जो एक ओर किसी विशाल समुदाय की जातीय अस्मिता का प्रतीक बनती है और दूसरी ओर उसका प्रयोग उन छोटे-छोटे समुदायों में परस्पर संपर्क के रूप में होता

है जिनकी मातृभाषा या प्रथम भाषा इससे भिन्न होती है। इसमें ध्वनि-संरचना, शब्द-संपदा और व्याकरणिक व्यवस्था के स्तर पर पाए जाने वाले अंतर के आधार पर भाषा और बोली में भेद नहीं किया जाता; जैसे-हिन्दी भाषा की बोलियों की अपनी-अपनी व्यवस्था है। वास्तव में, अन्य भाषा-भाषी के पूछने पर व्यापक संदर्भ में अपने को हिन्दी भाषी कहलाना उपयुक्त समझता है।

इस दृष्टि से भाषा और बोली का आधार किसी भाषायी समाज की संप्रेषण व्यवस्था और उसकी जातीय चेतना है। इसकी प्रकृति गतिशील होती है। सामाजिक परिवर्तन के दौरान उसकी प्रकृति और क्षेत्र में भी परिवर्तन होता रहता है। इसलिए उस समाज की भाषा कभी 'भाषा' का रूप धारण कर लेती है और कभी 'बोली' का। उदाहरण के लिए, हिन्दी की वर्तमान बोलियों, ब्रज, अवधी और खड़ीबोली को लिया जाए तो ब्रज और अवधी एक समय भाषा थीं जिनमें कृष्ण काव्य और राम काव्य की रचना हुई थीं और बाद में ये भाषा पद से उतर कर बोली बन गईं। 19वीं शताब्दी तक खड़ीबोली कभी मात्र एक बोली थी जो आज ऊपर उठ कर भाषा का दर्जा प्राप्त किए हुए है।

जब कोई बोली साहित्य की श्रेष्ठता और शासन के बल पर अपनी अलग अस्मिता बनाती है, तब वह बोली जातीय पुनर्गठन की सामाजिक प्रक्रिया के दौरान सांस्कृतिक पुनर्जागरण, राजनैतिक पुनर्गठन और आर्थिक पुनर्व्यवस्था के कारण अन्य बोलियों की तुलना में अधिक महत्त्व प्राप्त कर लेती है और 'भाषा' का पद प्राप्त करती है। यह बोली अपने व्यवहार-क्षेत्र को पारकर अक्षेत्रीय तथा सार्वदेशिक हो जाती है और इसका प्रयोग-क्षेत्र बढ़ जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि प्रकार्यात्मक आधार पर भाषा और बोली में अंतर निम्नलिखित आयामों में किया जा सकता है:

- (क) सामाजिक प्रकार्य में भाषा अधिरोपित होती है और बोली भाषा की अधीनस्थ होती है।
- (ख) क्षेत्रीय संदर्भ में भाषा अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत होती है, जबकि बोली का क्षेत्र सीमित होता है।
- (ग) प्रयोग-क्षेत्र में भाषा बहुमुखी और बहु-आयामी होती है और बोली अपेक्षाकृत सीमित होती है। भाषा का प्रयोग लिखित साहित्य, शिक्षा, प्रशासन आदि विभिन्न व्यवहार-क्षेत्रों में अधिक होता है।
- (घ) भाषा में सर्जनात्मक साहित्य की रचना अधिक होती है और बोली में लोक-साहित्य की रचना अपेक्षाकृत अधिक होती है।
- (ङ) भाषा का प्रयोग प्रायः औपचारिक संदर्भों में अधिक होता है, जबकि बोली का प्रयोग सामान्यतः अनौपचारिक संदर्भों में अधिक होता है।
- (च) भाषा अपेक्षाकृत अधिक मानक और आधुनिक होती है, जबकि बोली में सापेक्षतया अधिक विकल्प मिलते हैं।

इन आयामों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि भाषा विभिन्न बोलियों के बोलने वालों में संपर्क भाषा का काम करती है। किंतु यह स्पष्ट है कि बोली की भी अपनी सामाजिक-सांस्कृतिक अस्मिता होती है, चाहे वह सीमित रूप में क्यों न हो। इस प्रकार भोजपुरी, खड़ीबोली, ब्रज, अवधी, हरियाणवी बोलियाँ पूर्ण रूप से अपनी सामाजिक-सांस्कृतिक अस्मिता को बनाए हुए हैं और अपने क्षेत्र में उनका अपना स्वरूप निखरा हुआ है।

यह भी ध्यान रहे कि बोलियाँ भाषा के विकास में कारगर भूमिका निभाती हैं। हिन्दी के विकास में खड़ीबोली की बोलीगत विशेषताएँ लुप्त हो गई हैं और हिन्दी का यह रूप खड़ीबोली से उतना ही अलग जा पड़ा है जितना वह भोजपुरी, मैथिली, अवधी, ब्रज आदि बोलियों से। लेकिन हिन्दी के विकास और संवर्धन में इन बोलियों के योगदान की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

बोली की विशिष्टताएँ

बोलियों के बीच पारस्परिक संबंध स्थापित करने के लिए दो विशिष्ट तत्त्व अवश्य होते हैं। एक, परस्पर बोधगम्यता और दो, संरचनात्मक समानता।

परस्पर बोधगम्यता: किसी एक ही भाषा की विभिन्न बोलियाँ बोलने वाले एक-दूसरे को समझ लेते हैं, किंतु दो भिन्न भाषाएँ बोलने वाले एक-दूसरे को नहीं समझ सकते। बोधगम्यता में कई तत्त्व कार्य करते हैं; स्थिति अथवा

संदर्भ, परंपरा, श्रोता की क्षमता, प्रयुक्त ध्वनि-रूपों का उच्चारण साम्य, प्रयुक्त शब्दों का आधिक्य आदि ऐसे तत्त्व हैं जो बोलियों के बीच बोधगम्यता लाने में विशेष भूमिका निभाते हैं। परस्पर बोधगम्यता से बोलियों में निकटता और समानता आती है। यदि बोलियों में निकटता और समानता कम होती है तो उनमें बोधगम्यता कम होती है।

संरचनात्मक समानता—प्रत्येक बोली में संरचनात्मक दृष्टि से काफी समानता पाई जाती है। विभिन्न बोलियों के सीमांकन के लिए उनमें ध्वनिपरक विशिष्टताओं के साथ-साथ शब्दपरक, रूपपरक और वाक्यपरक विशिष्टताएँ भी होती हैं। इनमें समानता के तत्त्व मिलते हैं। जकार्ता की एक बोली 'ओमोग' संरचनात्मक दृष्टि से स्वतंत्र मानी जा सकती है। अवधी में 'ग', खड़ीबोली में 'गया', ब्रज में 'गयो' तथा भोजपुरी में 'गइल' रूपों में समानता मिलती है, जिसके कारण अवधी, खड़ीबोली, ब्रज तथा भोजपुरी हिन्दी भाषा की बोलियाँ मानी जाती हैं। इस प्रकार परस्पर बोधगम्यता और संरचनात्मक समानता बोलियों को एक-दूसरे के निकट लाने का कार्य करती हैं।

(ii) **अपभ्रष्ट बोली** : भाषा में पाए जाने वाले **अनाश** और व्याकरण-विरुद्ध प्रयोगों को **अपभ्रष्ट बोली या भाषा** रूप कहा जाता है। **सामाजिक दृष्टि से इस अग्राह्य और शिष्टेतर प्रयोग को अपभाषा भी कहते हैं जिसे अंग्रेजी में 'स्लैंग' (slang) कहा जाता है। वास्तव में अपभ्रष्ट भाषारूप एक विशेष वर्ग द्वारा प्रयुक्त भाषा रूप है, जिसमें वे शब्द और अभिव्यक्तियाँ होती हैं, जो शब्दकोश में नहीं पाए जाते। यह प्रायः अनौपचारिक स्थितियों में बोली जाती है। औपचारिक स्थितियों में इसका प्रयोग उपयुक्त नहीं माना जाता। इसीलिए शिष्ट समुदाय में इसका प्रयोग अग्राह्य होता है। इसका अपना एक अल्पसंख्यक समुदाय होता है, जिसमें शब्दों का प्रयोग अन्य समुदायों में प्रयुक्त शब्दों से अलग होता है या उस समुदाय के लोगों को इन्हें समझने में कठिनाई होती है। अपभ्रष्ट बोली के शब्द प्रायः अर्थापकर्षमूलक होते हैं और सामान्य भाषा के आदर्श रूपों की अवहेलना करते हैं। इसके लाक्षणिक प्रयोग भी प्रायः हीनताबोधक होते हैं।**

कुछ विद्वानों के मतानुसार सैनिकों, विशेषकर सैनिक अधिकारियों के भाषा रूप में शिष्टेतर प्रयोगों का काफी मिश्रण होता है। ड्राइवरों की भाषा में भी अपभ्रष्ट बोली दिखाई देती है। कई बार कंजड़ों की भाषा में भी गाली-गलौच की भरमार मिलती है। आजकल लिखे जा रहे नए उपन्यासों या कहानियों में तथा जनसंचार के कुछ कार्यक्रमों में, विशेषकर कामदी कार्यक्रमों में इस प्रकार की शिष्टेतर अभिव्यक्तियाँ और शब्दावली पाई जाती हैं। इस अपभ्रष्ट भाषा का अध्ययन करने से प्रयोक्ताओं के मानस का जीवंत नमूना प्राप्त होता है।

(iii) मानक और अमानक भाषा

मानक का अर्थ है किसी वस्तु का वह आदर्श रूप जो सभी को स्वीकार्य हो और जिसकी गुणवत्ता सिद्ध हो। जैसे आपने 'एमार्क' और 'आई.एस.आई.' तथा 'आई.एस.ओ.' के बारे में सुना होगा कि जिन खाद्य पदार्थों पर एमार्क की मोहर हो और जिन वस्तुओं तथा पदार्थों को आई.एस.आई. और 'आई. एस. ओ.' प्रमाणित कर दे, उन्हें सामान्य तौर पर सर्वमान्य तथा उत्कृष्ट माना जाता है।

भाषा के भी मानक रूप की अपेक्षा रहती है। भाषा का यह रूप ऐसा परिपूर्ण हो कि प्रत्येक भाषाभाषी व्यक्ति उसे बोलने में गौरव अनुभव करे। ऐसी भाषा का व्यवहार-क्षेत्र या प्रयोग-क्षेत्र जितना विस्तृत होता जाएगा, उसकी संरचना में अनेक रूप मिलेंगे। अतः उन विभिन्न रूपों में किसी एक रूप को **मानक** मानकर अन्य रूपों को या तो **अमानक** मानकर या अशुद्ध बताकर उसे त्याग दिया जाता है। हिन्दी में **मुझे-मेरे** को, आप **जाइए-आप जाओ**, मैंने **किया-मैंने करा** आदि प्रयोगों में पहले को मानक रूप मानते हुए दूसरे को अमानक अथवा मानकच्युत स्वीकार किया गया है।

मानकता के आधार पर भाषा के मुख्यतः दो रूप माने गए हैं—(क) **मानक भाषा** और (ख) **अमानक भाषा**।

(क) **मानक भाषा**: भाषा का वह आदर्श रूप जिसे व्याकरण और परंपरा से मान्यता प्राप्त हो और उसे लोक स्वीकृति प्राप्त हो। वह क्षेत्रीय और सामाजिक विविधताओं से ऊपर उठकर सर्वग्राह्य और सर्वमान्य हो। **मानक भाषा संपर्क भाषा के रूप में प्रयुक्त होती है। यह संरचनात्मक दृष्टि से अपनी भाषा के विभिन्न रूपों में से किसी एक रूप या एक बोली पर आधारित होती है।** इसके मानक बनते ही इसकी बोलीगत विशिष्टताएँ लुप्त होने लगती

हैं और वह क्षेत्रीय से अक्षेत्रीय हो जाती है। हमारे सामने हिन्दी का मानक रूप है। यह मानक रूप हिन्दी की खड़ीबोली से विकसित हुआ है। इस रूप में खड़ीबोली की बोलीगत विशिष्टताएँ लुप्त हो गई हैं और यह रूप खड़ीबोली से उतना ही अलग जा पड़ता है जितना वह भोजपुरी, अवधी, ब्रज आदि अन्य बोलियों से।

संरचना की दृष्टि से मानक भाषा में आंतरिक संसक्ति होती है और प्रयोग की दृष्टि से काफी व्यापक भी होती है। मानक भाषा का प्रयोग-क्षेत्र जितना विस्तृत होता जाएगा, उसकी संरचना में अधिक-से-अधिक समरूपता की आवश्यकता बनी रहेगी। भाषा के उच्चारण, वर्तनी, शब्द-रूप और वाक्य-विन्यास में स्थिरता लाने का प्रयास रहता है। इसमें एक शब्द का एक ही उच्चारण और एक ही वर्तनी की अपेक्षा रहती है। इसका एक ही व्याकरणिक ढाँचा होता है। इस भाषिक एकरूपता या आंतरिक संसक्ति से संप्रेषणीयता में व्याघात उत्पन्न नहीं होता और इसीलिए वह सामाजिक प्रतिष्ठा को प्राप्त करती है। किंतु कई बार संरचनात्मक एकरूपता से भाषा की जीवंतता समाप्त हो जाती है, इसलिए इसमें सतत लचीलेपन की अपेक्षा रहती है और यह लचीलापन तार्किक होता है। इस प्रकार मानक भाषा से संप्रेषणीयता और बोधगम्यता बनी रहती है और वह सार्वजनीन तथा सार्वदेशिक हो जाती है।

(ख) अमानक भाषा : भाषा का वह अशुद्ध रूप जिसमें **व्याकरण के नियमों का पालन न हुआ** हो और वह **भाषा की प्रकृति के अनुकूल न हो। उसे लोक स्वीकृति न मिली हो अर्थात् भाषाभाषियों से उसे पूर्ण सहमति न मिली हो। संरचना की दृष्टि से इसमें संसक्ति नहीं होती और प्रयोग की दृष्टि से यह सीमित होती है। इसमें समरूपता के स्थान पर अनेकरूपता होती है।** भाषा के उच्चारण, वर्तनी, शब्द-रूप और व्याकरण में स्थिरता के स्थान पर अस्थिरता दिखाई देती है। इसकी भाषिक अनेकरूपता से संप्रेषणीयता में व्याघात उत्पन्न होता है।

हिन्दी के उच्चारण, वर्तनी, शब्द-रूप और वाक्य-विन्यास की दृष्टि से **मानक भाषा** और **अमानक भाषा** का अध्ययन करने से यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाएगा। उदाहरण के लिए;

उच्चारण और वर्तनी

मानक रूप

पड़ोस

धोबिन

औरत

पैसा

हुआ

अमानक रूप

पड़ोस

धोबन

अउरत

पइसा

हुवा

व्याकरणिक रूप

जाए

कीजिए

किया

करो

जाय

करिए

करा

करियो

शब्द संपदा

लड़का

तोरी

मोज़ा

गूथना

छोरा, लरिका

निनुआ, तरोई

जुराब

माड़ना, सानना

इस प्रकार मानक भाषा और अमानक भाषा एक-दूसरे के विपरीत प्रकार हैं।

एक तीसरा रूप **मानकेतर** भी है। इसमें परंपरागत व्याकरण का अतिक्रमण होता है अर्थात् व्याकरण की दृष्टि से यह सही नहीं होता, किंतु इसे लोक स्वीकृति मिली होती है और समाज में इसका प्रयोग प्रायः मिल जाता है। उदाहरण के लिए;

- | | | |
|--------------------------|---|-----------|
| मुझे (मुझको) घर जाना है। | - | (मानक) |
| मेरे को घर जाना है। | - | (अमानक) |
| मैंने घर जाना है। | - | (मानकेतर) |

अंत में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि हिन्दी भाषा अभी मानकीकरण की प्रक्रिया में है। कई प्रयासों के बावजूद यह भाषा अभी भी अस्थिरता और विकल्प के झूले पर पेंगें मारती नज़र आ रही है। वास्तव में भारत बहुभाषी देश है और हिन्दी की भी अनेक बोलियाँ हैं। **इसलिए बहुभाषी देशों की यह नियति है कि उनकी मानक भाषा अपनी प्रकृति में बहुआयामी और बहुस्तरीय होती है।** हिन्दी की कई बोलियों का प्रभाव तो इसके मानक रूप पर पड़ना स्वाभाविक है, किंतु साथ में अन्य भाषाओं का भी प्रभाव पड़ता है। अतः हिन्दी के मानक रूप को स्थिर और स्थायी बनाने के लिए अधिक प्रयास करने की आवश्यकता है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. भाषा के विकास का अभिप्राय लिखिए।
2. भाषा परिवर्तन के कारण का विवेचन कीजिए।
3. भाषा के विविध प्रयोग पर टिप्पणी लिखिए।
4. भाषा और बोली में अंतर स्पष्ट कीजिए।
5. बोली की विशेषताएँ लिखिए।
6. अपभ्रष्ट भाषा (SLANG) से आप क्या समझते हैं? सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।
7. मानक भाषा की विशेषताएँ लिखिए।
8. मानक भाषा और अमानक भाषा का अंतर स्पष्ट कीजिए।

(घ) भारत का भाषा वैविध्य और भाषा नीति

(i) भाषा परिवार और भारतीय भाषाएँ

प्रो. कृष्णकुमार गोस्वामी
पूर्व प्रोफेसर एवं क्षेत्रीय निदेशक,
केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, (भारत सरकार)

(क) भाषा परिवार

विश्व में मानव की अनेक जातियाँ मिलती हैं, उसी प्रकार अनेक भाषाएँ भी हैं। इन भाषाओं के परस्पर संबंध, उनकी आंतरिक और बाह्य प्रकृति, उनकी संरचनात्मक समानता के आधार पर इनका वर्गीकरण किया जाता है। इस वर्गीकरण में देश, महाद्वीप, धर्म, काल या युग का आधार नहीं होता, क्योंकि एक देश की भाषा दूसरे देश में, एक महाद्वीप की भाषा दूसरे महाद्वीप में, एक धर्म की भाषा दूसरे धर्म में, एक काल या युग की दूसरे काल या युग में प्रयुक्त हो सकती है। इस वर्गीकरण में भाषा की रचनागत समानता और परस्पर संबंध को आधार बनाया जाता है, चाहे उनके बीच कोई रिश्ता-नाता न हो।

यह भी संभव है कि किसी युग में एक भाषा की प्रकृति अलग है, किंतु उससे विकसित भाषा की प्रकृति काल के अंतराल में अलग हो गई हो। उदाहरण के लिए, संस्कृत योगात्मक भाषा रही है और आज भी है, किंतु उससे विकसित हिन्दी अयोगात्मकता की ओर बढ़ी है। वास्तव में इस पाठ में भाषाओं के परिवार और उनके परस्पर संबंध के बारे में जानकारी प्राप्त करना है जिससे भाषा के विकास और उनके तुलनात्मक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त किया जा सके।

यहाँ पर संसार की सभी भाषाओं को उनके ऐतिहासिक संदर्भों में परस्पर संबंध और संरचनात्मक समानता के आधार पर अलग-अलग परिवारों में बाँटा गया है।

इस पारिवारिक वर्गीकरण में भाषा परिवारों की संख्या के बारे में विद्वानों में मतभेद है, लेकिन अधिकतर विद्वान अट्टारह भाषा-परिवार मानते हैं जिन्हें चार खंडों में विभाजित किया गया है—(1) यूरोशिया खंड, (2) अफ्रीकी खंड, (3) प्रशांत महासागरीय खंड और (4) अमरीकी खंड।

(1) **यूरोशिया खंड**—इसके अंतर्गत यूरोप और एशिया की भाषाएँ हैं। इसके दस भाषा-परिवार माने गए हैं—भारोपीय परिवार, द्रविड़ परिवार, चीनी-तिब्बती परिवार, जापानी-कोरियाई परिवार, यूराल-अल्ताई परिवार, बुरुशास्की परिवार, काकेशी परिवार, सामी-हामी परिवार, बास्क परिवार और हाइपरबोरी परिवार।

(2) **अफ्रीकी खंड**—इसके अंतर्गत अफ्रीका महाद्वीप की भाषाएँ हैं। इसके तीन परिवार माने गए हैं—सुडानी परिवार, बाँटू परिवार और होतेंतोत-बुशमैनी परिवार।

(3) **प्रशांत महासागरीय खंड**—इसके अंतर्गत अफ्रीका के तटवर्ती मेडागास्कर के आसपास न्यूजीलैंड, मलय, जावा आदि के बहुद्वीप, मलेशिया, आस्ट्रेलिया महाद्वीप, दक्षिणपूर्व एशिया तक की भाषाएँ आती हैं। इसके चार परिवार माने गए हैं—मलय-पॉलेनिशियन परिवार, आस्ट्रेलियाई परिवार, पापुई परिवार और ऑस्ट्रिक (दक्षिण-पूर्व एशियाई) परिवार।

(4) **अमरीकी खंड**—इसके अंतर्गत उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका के मूल निवासियों की भाषाएँ हैं। इसमें लगभग एक सौ भाषा-परिवारों की कल्पना की गई है।

इन अट्टारह भाषा-परिवारों का वर्णन संक्षिप्त रूप से दिया जा रहा है:

1. **भारोपीय भाषा-परिवार**—यह परिवार संसार का सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाषा-परिवार है। यह विश्व के बहुत बड़े भू-भाग में फैला हुआ है। साहित्य, संस्कृति, सभ्यता, जनसंख्या और राजनीतिक प्रभुत्व तथा उपनिवेशवादी व्यवस्था

की दृष्टि से यह परिवार काफी संपन्न और उच्चस्तरीय है। इस भाषा-परिवार की भाषाओं पर जितना अधिक अध्ययन हुआ है, उतना अन्य परिवारों की भाषाओं पर नहीं हुआ। कुछ विद्वानों ने इसे **भारत-हिन्दी** की संज्ञा दी है, क्योंकि एशिया माइनर में टर्की के बोगाजकोई नामक स्थान की पुरातात्विक खुदाई में कुछ कीलाक्षर मिले थे जिन्हें हिताइत भाषा का माना जाता है।

भारोपीय भाषा-परिवार का क्षेत्र यूरोप के कुछ भागों से लेकर एशिया के कुछ भागों तक फैला हुआ है। इस परिवार की कुछ भाषाएँ उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका, आस्ट्रेलिया आदि तक फैल गई हैं। भारोपीय परिवार की भाषाओं में निकटता अधिक मिलती है। **इस परिवार की अधिकतर भाषाएँ श्लिष्ट योगात्मक भाषाएँ हैं। इनमें शब्दों की रचना प्रायः उपसर्ग, धातु और प्रत्यय के योग से होती है।** इनमें समास बनाने की प्रवृत्ति भी रही है। वाक्य-रचना पदों से होती है और पद विभक्ति से संयुक्त हो कर बनते हैं। इन भाषाओं में रूप-परिवर्तन से अर्थ-परिवर्तन भी होता है। मूल भारोपीय भाषा की कंट्य ध्वनियाँ कुछ शाखाओं में कंट्य 'क', 'ख' आदि रह गई हैं और कुछ शाखाओं में संघर्षी 'श', 'स', 'ज' हो गई हैं। लातीनी में सौ को केंतुम कहते हैं और अवेस्ता में सतम्। इसलिए भारोपीय परिवार की भाषाओं को केंतुम और सतम् वर्गों में विभाजित किया गया। केंतुम वर्ग में जर्मनिक, हिताइत, ग्रीक, इतालिक, केल्टिक और तोखारी भाषाएँ हैं, जिनमें कंट्य ध्वनियाँ विद्यमान हैं। सतम् वर्ग में भारत-ईरानी, बाल्टो-स्लाविक, आरमीनी और अलबीनी भाषाएँ हैं, जिनमें कंट्य ध्वनि संघर्षी बन गई है।

(अ) केतुम वर्ग

I. **जर्मनिक** : यह भारोपीय भाषा-परिवार का महत्वपूर्ण उपपरिवार है। इसे ट्यूटानिक उप परिवार भी कहते हैं। इसकी सबसे प्राचीन भाषा गाँथिक है जो आज लुप्तप्राय है। इस शाखा की भाषाएँ जर्मनी, ब्रिटेन, हालैंड, स्वीडन, नार्वे, आइसलैंड, डेनमार्क, बेल्जियम, कनाडा, अमेरिका आदि में बोली जाती हैं। इस उपपरिवार की सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाषा अंग्रेजी है, जिसका प्रयोग संसार के सबसे बड़े क्षेत्र में होता है। अंग्रेजी के अतिरिक्त इसकी जर्मन, डच, स्वीडी, नार्वेई, आइसलैंडी, डेनी और लेमी आधुनिक भाषाएँ प्रमुख हैं।

II. **हिताइत** : हिताइत अथवा हिन्दी भाषा की जानकारी 20वीं शताब्दी के आरंभ में टर्की में बोगाजकोई गाँव की खुदाई से प्राप्त हुई। मिट्टी की चौड़ी पट्टिकाओं पर कीलाक्षरों से लिखे अभिलेख 2000 ई.पू. के आँके गए हैं।

III. **ग्रीक** : भारोपीय परिवार की 'ग्रीक' भाषा केंतुम वर्ग की सर्वाधिक प्राचीन और सुविख्यात भाषा रही है। इसे 'हेलेनिक' भाषा उपपरिवार भी कहा जाता है। यह भाषा ईजियन द्वीप समूह, यूनान, दक्षिणी अलबानिया, युगोस्लाविया, दक्षिणी-पश्चिमी बुलगारिया, तुर्की के कुछ भागों में और साइप्रस में बोली जाती है। आत्तिक, दोरिक, इयोनी तथा आएअलोल्ली बोलियाँ इसकी प्रमुख थीं।

IV. **इतालिक** : इसको लैटिन या रोमांस भाषा उपपरिवार भी कहा जाता है क्योंकि इसकी सबसे अधिक **प्रसिद्ध भाषा लैटिन** है। यह रोमन कैथोलिक संप्रदाय की धर्मभाषा और यूरोप की सांस्कृतिक भाषा है। यूरोप में इसका वही स्थान है जो संस्कृत का भारत में है। लैटिन के अतिरिक्त इसकी प्रमुख आधुनिक भाषाएँ फ्रांसीसी, स्पेनी, पुर्तगाली और रूमानी हैं।

V. **केल्टिक** : केल्टिक शाखा की भाषाओं का प्रयोग यूरोप के बड़े भूभाग ब्रिटेन, फ्रांस, उत्तरी इटली से लेकर एशिया माइनर आधुनिक तुर्की तक होता था। लेकिन बाद में रोमानों के प्रभुत्व और राज्य विस्तार के कारण ये भाषाएँ समाप्तप्राय हो गईं। इस समय इसकी भाषाएँ ग्रेट ब्रिटेन, स्काटलैंड, आयरलैंड, वेल्स और कार्नवाल में बोली जाती हैं।

VI. **तोखारी** : इस शाखा की जानकारी 20वीं शताब्दी में पूर्वी तुर्किस्तान से प्राप्त कुछ ग्रंथों और पत्रों के अध्ययन से मिली है। इसका तोखारी नाम इस भाषा को बोलने वाली जाति तोखार अथवा तोषार के नाम पर पड़ा। इस भाषा का प्रयोग दूसरी शताब्दी ई. पू. से 7 वीं शताब्दी तक मिलता है।

(आ) सतम् वर्ग

VII. **भारत-ईरानी:** इस उपपरिवार की दो मुख्य शाखाएँ हैं—(क) भारत-आर्य और (ख) ईरानी।

(क) **भारत-आर्य शाखा**—विकास के आधार पर भारत-आर्य शाखा के काल-भेद हैं - (अ) प्राचीन भारत-आर्य भाषा, (आ) मध्यकालीन भारत-आर्य भाषा और (इ) आधुनिक भारत-आर्य भाषा।

प्राचीन भारत-आर्य भाषा समूचे भारत की प्राचीन काल से 500 ई.पू. तक प्रयुक्त होती थी। इसका प्राचीनतम रूप वेदों में मिलता है, जिसे वैदिक संस्कृत कहा जाता है। वैदिक संस्कृत का युग 2500 ई.पू. से 1000 ई.पू. तक माना जाता है। **कालांतर में साहित्यिक भाषा के रूप में लौकिक संस्कृत का विकास हुआ।** इसमें रचित धार्मिक और सर्जनात्मक साहित्य बहुत ही समृद्ध और संपन्न है, जिसके रामायण, महाभारत जैसे धर्म ग्रंथ और 'शकुंतला' तथा 'कुमार संभव' जैसे उत्कृष्ट उदाहरण हैं। यद्यपि इसका काल 1000 ई.पू. से 500 ई.पू. तक माना जाता है, किंतु आज भी इसका प्रयोग निरंतर चल रहा है।

मध्यकालीन भारत-आर्य भाषा का काल 501 ई.पू. से 1000 ई. तक माना जाता है। प्रथम शताब्दी से 501 ई. तक प्राकृत काल माना जाता है। 501 ई. से 1000 ई. तक अपभ्रंश काल स्वीकार किया गया है। कुछ विद्वान इसे प्राकृत के प्रथम, द्वितीय और तृतीय सोपान के रूप में मानते हैं। उनके मतानुसार संस्कृत को छोड़कर अन्य भाषाएँ अपरिष्कृत और अमानक थीं। इस काल में प्राकृत के प्रथम सोपान पालि का विकास हुआ। इसमें बौद्ध साहित्य की रचना प्रचुर मात्र में हुई। **प्राकृत के दूसरे सोपान का काल ईसवी सन् के प्रारंभ से 500 ई. तक माना जाता है। प्राकृत का संबंध प्रकृति से है और इसलिए इसे अकृत्रिम, संस्कार मुक्त और सामान्य भाषा माना जाता है। विद्वानों के मतानुसार संस्कृत आचार्यों की भाषा थी तो प्राकृत जनसामान्य की।**

कालांतर में यह भाषा साहित्यिक हो गई और इसमें अधिकतर जैन साहित्य की रचना हुई। प्राकृत के कई रूप विकसित हुए जिनमें **मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री** और **पैशाची** प्रमुख हैं। प्राकृत के तीसरे सोपान का काल 501 ई. से 1000 ई. तक माना जाता है। इसे अपभ्रंश भाषा कहा जाता है। कुछ विद्वानों का कहना है कि प्राकृत और आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के बीच की स्थिति अपभ्रंश भाषा रही है, किंतु कुछ विद्वानों का मत है कि अपभ्रंश भी एक प्राकृत थी जिसका प्रयोग गुजरात, राजस्थान और सिंध में होता था। इसी से **नागर, उपनागर** और **ब्राह्मि** रूप विकसित हुए थे।

भारत-आर्य भाषाओं का आधुनिक काल दसवीं शताब्दी से माना जाता है, किंतु इन भाषाओं को साहित्यिक रूप प्राप्त करने में लगभग चार-पाँच शताब्दियाँ लग गईं। इस युग को अवहट्ट काल भी कहा जाता है, क्योंकि इस अवधि में अपभ्रंश के विकसित-पूर्व रूप अवहट्ट में रचनाएँ लिखी जा रही थीं। आधुनिक आर्य भाषाओं के वर्गीकरण पर विभिन्न विद्वानों में मतभेद हैं, किंतु यह अवश्य स्वीकार किया गया है कि तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी तक आते-आते विभिन्न प्राकृत रूपों से कई स्वतंत्र भाषाओं का विकास हुआ जिनमें हिन्दी, मराठी, गुजराती, बंगला, उड़िया, असमिया, पंजाबी, सिंधी आदि प्रमुख हैं।

(ख) **ईरानी शाखा**—इस शाखा की भाषाएँ ईरान के पूर्वी और पश्चिमी क्षेत्रों में बोली जाती हैं। पूर्वी ईरान की प्रमुख भाषा अवेस्ता है जिसमें पारसियों के धर्मग्रंथ अवेस्ता की रचना हुई थी। इसके साथ प्राचीन फ़ारसी भी थी जो अब लुप्तप्राय हो गई है। इस उपपरिवार की आधुनिक भाषाओं में आधुनिक फ़ारसी, बलूची, कुर्दिश, पश्तो (अफ़ग़ानी), हुज्वारेण, पहलवी (पाजंद), देवारी उल्लेखनीय हैं। इसकी भाषाएँ भारत से लेकर कैस्पियन सागर तक बोली जाती हैं और हिंदुकुश पर्वत तथा पामीर की तराई तक जो ईरानी भाषाएँ बोली जाती हैं, उनके समूह को पामीरी कहते हैं।

VIII. **बाल्टो-स्लाविक**—इस परिवार के दो उपपरिवार हैं - बाल्टो और स्लाविक। बाल्टो उपपरिवार में लिथुआनी और लेटवियन भाषाएँ आती हैं जबकि स्लाविक उपपरिवार में रूसी, उक्रेनी, पोलि, चेक, स्लोवाक, बुल्गारी, स्लोवेनी, सर्बो, क्रोशियन आदि भाषाएँ हैं। इसका प्रयोग अधिकतर पूर्वी यूरोप में अर्थात् रूस, लिथुआनिया, लातविया, युक्रेन, पोलैंड, चेक, स्लोवाकिया, बुल्गारिया, युगोस्लाविया आदि में होता है।

IX. **आरमीनी**—यह ईरान के निकट आरमीनिया की भाषा है। इसका प्रयोग कुस्तुनुनिया और कृष्ण सागर के तट पर होता है।

X. **अलबानी**—इसे इलीरी उपपरिवार भी कहते हैं। यह अलबानी आद्रियातिक सागर के पूर्व स्थित पहाड़ी प्रदेश की भाषा है। इस पर ग्रीक भाषा की निकटता और स्लाविक भाषा का प्रभाव दृष्टिगत होता है। इस भाषा में सोलहवीं शताब्दी का एक अनुवाद उपलब्ध है किंतु साहित्य-रचना काफी कम हुई है।

2. **द्रविड़ भाषा-परिवार**—यह भाषा-परिवार एक जाति-विशेष द्रविड़ के नाम से रखा गया है। इसके बोलने वाले भारत के दक्षिणी भाग में अर्थात् तमिलनाडु, आंध्रप्रदेश, कर्नाटक, केरल और उसके आसपास बसे हुए हैं। इसके अतिरिक्त बिहार, उड़ीसा, लक्षद्वीप तथा मध्यप्रदेश में भी कुछ भाषाएँ बोली जाती हैं। भारत से बाहर दक्षिण में श्रीलंका और पश्चिमोत्तर में बलूचिस्तान में भी इस परिवार के बोलने वाले रहते हैं। **इसकी सर्वाधिक प्राचीन भाषा तमिल है।** तमिल के अतिरिक्त तेलुगु, मलयालम, कन्नड़, तुलु, कुरुग, टुडा, कुई, कोलामी, ओराँव, गोड़ी, ब्राहुई आदि भाषाएँ प्रमुख हैं।

3. **चीनी-तिब्बती भाषा-परिवार**—इस परिवार की भाषाएँ चीन, तिब्बत, थाईलैंड, म्यांमार (बर्मा), भूटान और भारत के पूर्वोत्तर सीमांत क्षेत्रों में बोली जाती हैं। इसकी दो मुख्य शाखाएँ हैं—चीनी-थाई और तिब्बती-बर्मी। चीनी-थाई उपपरिवार की मंडारिन भाषा सबसे अधिक बोली जाती है। इसके अतिरिक्त कैँटोनी, वू, मिन, हक्का, मिअओ, यओ, थाई (स्यामी) प्रमुख हैं। तिब्बती-बर्मी उपपरिवार की तिब्बती, बर्मी, बोडो, नागा, कुकीचिन, गारो आदि उल्लेखनीय भाषाएँ हैं।

4. **जापानी-कोरियाई भाषा-परिवार**— इसका क्षेत्र जापान और कोरिया देश हैं। इस भाषा-परिवार के बारे में विद्वानों में मतभेद हैं। कुछ विद्वान इसे यूराल-अल्ताई या चीनी-तिब्बती परिवार में गिनना उचित समझते हैं। इसकी लछूआई बोलियाँ प्रमुख हैं।

5. **यूराल-अल्ताई भाषा-परिवार**—इस परिवार की भाषाएँ यूराल और अल्ताई पर्वतों के बीच बोली जाती हैं। इसीलिए इसकी दो शाखाएँ मानी गई हैं - यूराल और अल्ताई। इसके विस्तृत क्षेत्र में हंगरी, फिनलैंड और टर्की देश आते हैं जिनकी क्रमशः मगियार (हंगेरियन), फिनिस और तुर्की भाषाएँ प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त लापी, एस्तोनी, किरगिज, अजरबैजान, उजबेक, मंगोली, मंचूरी, तुंगुजा, तातार भाषाएँ उल्लेखनीय हैं।

6. **बुरुशस्की भाषा-परिवार**—इसकी भाषाएँ भारत के पश्चिमी छोर हुंजा, नागर, गिजिर घाटी तथा यासिन के एक भाग में बोली जाती हैं। बुरुशस्की का क्षेत्र भारत-ईरानी, तिब्बती और तुर्की भाषा-उपपरिवारों की भाषाओं से घिरा है।

7. **काकेशी परिवार**—इस परिवार की भाषाओं को बोलने वाले काकेशस पर्वत के आस-पास के स्थानों पर रहते हैं। यह पर्वत शृंखला काला सागर और कैस्पियन सागर के बीच स्थित है। पहाड़ी भूभाग होने और संपर्क की कमी के कारण इसकी भाषाओं की संख्या अधिक है। इस परिवार की जार्जियन, चेचेन, स्वानी, मिग्रेली, सरकसी, लेगी आदि भाषाएँ उल्लेखनीय हैं।

8. **सामी-हामी भाषा-परिवार**—इस परिवार के दो उपपरिवार हैं - सामी और हामी। कुछ विद्वान इन दोनों को अलग-अलग परिवार भी मानते हैं, क्योंकि इनमें परस्पर समानता होते हुए भी कई भेदक तत्व हैं। सामी अथवा सेमेटिक परिवार की भाषाएँ अफ्रीका और एशिया दोनों में बोली जाती हैं। अफ्रीका में मोरक्को से स्वेज़ नहर तक ये भाषाएँ फैली हैं। असीरियन, बैबीलियन, मिनिशियन और कुरान की मूल भाषा अरमाइक इसी परिवार की शाखाएँ हैं। बाइबिल की मूल भाषा प्राचीन हिब्रू और अरबी इसी परिवार की भाषाएँ हैं। हामी अर्थात् हैमेटिक परिवार की मुख्य शाखाएँ लीबियन और इथोपियन हैं। प्राचीन मिस्री भाषा इसी परिवार की मानी जाती है। इसकी अधिकतर भाषाएँ लुप्तप्राय हो गई हैं।

9. **बास्क भाषा-परिवार**—इसे एडस्कर भाषा-परिवार भी कहते हैं। यह फ्रांस और स्पेन की सीमा पर पैरीनीज पर्वत के पश्चिमी भाग में बोली जाती है। यह चारों ओर से भारोपीय भाषा-परिवार से घिरी हुई है, किंतु इसपर काकेशी और सेमेटिक परिवारों का भी प्रभाव है।

10. **हाइपरबोरी भाषा-परिवार**—इस परिवार को पुरा-एशियाई अथवा पोलियो एशियाटिक भी कहते हैं। हाइपर और बोरी से अभिप्राय अति और उत्तरी है। अतः इसे अत्युत्तरी भी कहा जा सकता है। इस परिवार की भाषाएँ एशिया के उत्तरी-पूर्वी छोर पर बसे अनेक द्वीपों और प्रायद्वीपों में बोली जाती हैं। इसकी प्रमुख भाषाएँ चुकची, युकगिर, कोरियक, कमचदल, गिलियक एवं अयनू हैं।

11. **सुडानी भाषा-परिवार**—इस परिवार की भाषाओं की संख्या चार सौ से भी अधिक है जिनमें हडसा, बुले, मनफू और कनूरी उल्लेखनीय हैं। इसकी भाषाएँ भूमध्य रेखा के उत्तर में पश्चिमी छोर से लेकर पूर्वी छोर तक बोली जाती हैं।

12. **बाँटू भाषा-परिवार**—बाँटू का शाब्दिक अर्थ है 'मनुष्य'। यह परिवार अफ्रीका खंड का मुख्य भाषा-परिवार है। इस परिवार का मुख्य क्षेत्र मध्य और दक्षिण अफ्रीका है। जंजीवार द्वीप में भी ये भाषाएँ बोली जाती हैं। इस परिवार की लगभग 150 भाषाएँ बोली जाती हैं जिनमें प्रमुख भाषा स्वाहिली के अतिरिक्त काफिर, जूलू, सेचुनी आदि भाषाएँ उल्लेखनीय हैं।

13. **होतेंतोत-बुशमैनी भाषा-परिवार**—इस परिवार की भाषाएँ आरेंज नदी से लेकर नगामी झील तक के भाग में तथा दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका के कुछ भागों में बोली जाती हैं। इसे खोइम भाषा-परिवार भी कहते हैं। होतेंतोत, नामा, हमरा, संदवा, ऐकवे, औकवे आदि इसकी प्रमुख भाषाएँ हैं।

14. **मलय-पॉलेनिशियन भाषा-परिवार**—इसे आस्ट्रोनेशियाई अथवा मलय बहुद्वीपीय परिवार भी कहते हैं। इस परिवार की भाषाएँ पश्चिम में अफ्रीका के तटवर्ती मेडागास्कर से लेकर पूर्व में ईस्ट द्वीप तथा उत्तर में फारमोसा से लेकर दक्षिण में न्यूज़ीलैंड तक बोली जाती हैं। इसके प्रमुख द्वीप हैं - मलेशिया (मलाया), इंडोनेशियाए जावा, सुमात्री, बाली, फिलीपीन, बोर्नियो, न्यूज़ीलैंड और प्रशांत महासागर के अनेक छोटे द्वीप हैं। इसकी प्रमुख भाषाएँ मलय, फीजियन, जावानीज़ और मओर हैं।

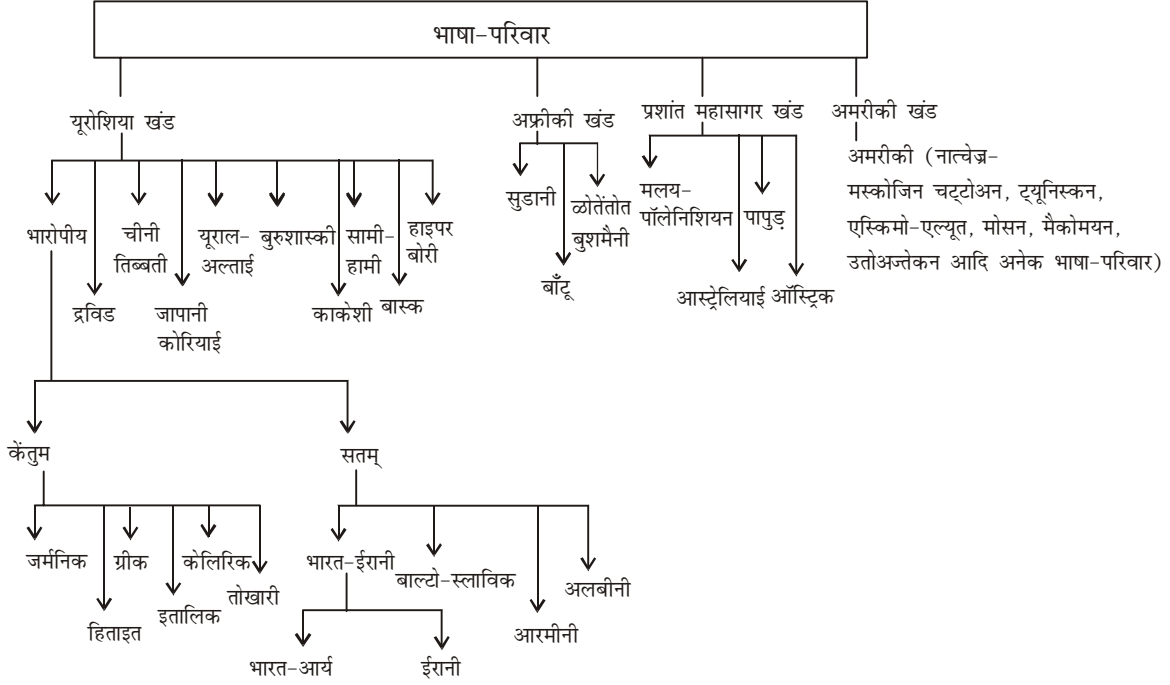
15. **आस्ट्रेलियाई भाषा-परिवार**—इस परिवार की भाषाएँ आस्ट्रेलिया के उत्तर और दक्षिण में बोली जाती हैं। इसकी लगभग एक सौ से ऊपर भाषाएँ मानी जाती हैं। वास्तव में आस्ट्रेलियाई आदिवासियों की समाप्ति के साथ-साथ उनकी भाषाएँ भी लुप्तप्राय हो गई हैं।

16. **पापुई भाषा-परिवार**—इस परिवार की भाषाएँ न्यूगिनी, तेरनात, सोलोमन द्वीप और न्यू ब्रिटेन के कुछ भागों में बोली जाती हैं। इसकी लगभग 132 भाषाएँ मानी जाती हैं, जिनमें मफोर भाषा उल्लेखनीय है।

17. **आस्ट्रिक भाषा-परिवार**—इस परिवार को दक्षिण-पूर्व एशियाई भाषा-परिवार भी कहते हैं। इसकी भाषाएँ बर्मा, थाइलैंड, निकोबार, भारत के पूर्वी पहाड़ी भाग, बिहार, मध्यप्रदेश, उड़ीसा, तमिलनाडु और पश्चिमी बंगाल के कुछ भागों में बोली जाती हैं। इस परिवार की भाषाओं के बोलने वालों की संख्या तो अधिक नहीं है, किंतु इसका क्षेत्र बहुत फैला हुआ है। मानखेरे, मुंडा, संथाली, खासी, निकोबारी, वियतनामी भाषाएँ इसकी प्रमुख भाषाएँ हैं।

18. **अमरीकी परिवार**—इस परिवार की भाषाएँ उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका के मूल निवासियों में बोली जाती हैं। इसके साथ ही मैक्सिको और ग्वाटेमाला में भी बोली जाती हैं। इन भाषाओं की संख्या लगभग 400 मानी गई है। इसकी कई शाखाएँ मानी गई हैं—जिनमें नात्वेज़-मस्कोज़िन, चद्दोअन, ट्यूनिस्कन, एस्किमो-एल्यूत, मोसन, मैक्रोमयन, उतो-अज़्तेकन शाखाएँ प्रमुख हैं। इन शाखाओं की भाषाएँ प्रायः बोलचाल की हैं और उनकी कोई लिपि नहीं है। **अमेरिका में भारोपीय परिवार की अनेक भाषाएँ प्रमुख रूप से बोली जाती हैं।** वास्तव में अमरीकी परिवार की भाषाओं का विधिवत् अध्ययन अभी तक नहीं हुआ, इसलिए इनका वस्तुनिष्ठ और वैज्ञानिक ढंग से वर्णन करना संभव नहीं है।

उपर्युक्त सभी भाषा परिवारों को निम्नलिखित आरेख में दिया गया है—



महत्त्वपूर्ण प्रश्न :

1. भारोपीय भाषा परिवार का परिचय दीजिए।
2. द्रविड़ भाषा परिवार के अंतर्गत आने वाली भाषाओं के नाम लिखिए।
3. 'भारत आर्यशाख' की विशेषताएँ लिखिए।

(ख) भारतीय भाषाएँ

भारत बहुभाषी देश है। भारत की जनगणना 1961 के अनुसार भारत में 1652 मातृभाषाएँ बोली जाती हैं। जनगणना 1971 के अनुसार इनमें 33 भाषाएँ मुख्य मानी गई हैं। इन भाषाओं में से 22 भाषाएँ भारत के संविधान की आठवीं अनुसूची में उल्लिखित हैं। भारत की ये सभी भाषाएँ भारत के विभिन्न नृजातीय वर्गों से निकटतम रूप से जुड़ी हुई हैं। इन भाषाओं को मुख्यतः चार भाषा-परिवारों में रखा जाता है: (1) भारत-आर्य परिवार; (2) द्रविड़ परिवार; (3) चीनी-तिब्बती परिवार; (4) ऑस्ट्रिक परिवार। इन भाषाओं का परस्पर संपर्क शताब्दियों से रहा है और इनसे आधुनिक भारत का मुख्य भाषायी वर्ग बना है। भारत-आर्य और द्रविड़ भाषा-परिवार भारत के प्रधान भाषा-परिवार हैं जिनके अंतर्गत प्रमुख भाषाएँ समाविष्ट हैं। इन दोनों परिवारों ने एक-दूसरे को तो प्रभावित किया ही है, साथ ही ये दोनों परिवार चीनी-तिब्बती तथा ऑस्ट्रिक भाषा-परिवारों से भी प्रभावित हुई हैं।

1. **भारत-आर्य भाषा-परिवार** : भारतीय भाषाओं का यह महत्त्वपूर्ण भाषा-परिवार है। यह भाषा-परिवार भारोपीय भाषा-परिवार का एक प्रमुख अंश है। इसमें भारत के उत्तरी, पूर्वी और पश्चिमी भागों की मुख्य भाषाएँ समाविष्ट हैं। भारत-आर्य भाषा परिवार का सबसे प्रथम भाषा-रूप वैदिक संस्कृत था जिसका विकास प्राचीनकाल में 1500 ई. पू. से 200 ई. पू. तक माना जाता है। इसमें भारत के प्राचीन ग्रंथ वेदों की रचना हुई

है। तत्पश्चात् वैदिक संस्कृत के परिनिष्ठित परिष्कृत और सुघड़ रूप संस्कृत, जिसे क्लासिक संस्कृत भी कहा जाता है, प्रयोग में आई। इस परिनिष्ठित रूप का प्रयोग 500 ई. पू. में हो रहा था, जिसमें साहित्यिक तथा तकनीकी विषयों में अनेक रचनाएँ हुईं। पाणिनि का सुविख्यात व्याकरण 'अष्टाध्यायी' उस समय की प्रमुख रचना है। आज भी भारत में इसी संस्कृत का अध्ययन-अध्यापन हो रहा है।

समय के अंतराल में प्राकृतिक और सामान्य भाषा-रूप 'मध्य-प्राकृत-भाषा' का विकास हुआ। इस भाषा के विभिन्न क्षेत्रीय रूप विकसित हुए। 'मध्य प्राकृत' के प्रथम भाषा रूप के दर्शन सम्राट अशोककालीन शिलालेखों में हो जाते हैं। इसमें पालि भाषा का विकास हुआ और इसमें बौद्ध साहित्य की रचना हुई। वास्तव में यह प्राचीनतम प्राकृत की साहित्यिक भाषा है जिसका प्रयोग आजकल श्रीलंका, म्यांमार (पूर्व बर्मा) और थाईलैंड में उपासना अथवा प्रार्थना के समय किया जाता है। प्राकृत के अन्य रूपों का प्रयोग लगभग 12वीं शताब्दी तक होता रहा है। प्राकृत भाषा में जैन साहित्य की रचना प्रचुर मात्रा में हुई है। दसवीं शताब्दी में आधुनिक भाषाओं का विकास प्रारंभ हो गया था। इस प्राकृत के शौरसेनी, मागधी, महाराष्ट्री रूप उल्लेखनीय हैं। प्राकृत के अन्य रूपों का साहित्य उपलब्ध नहीं है।

प्राकृत से धीरे-धीरे अपभ्रंश का विकास हुआ, जिसका प्रयोग 13वीं शताब्दी तक मिलता है, हालांकि दसवीं शताब्दी में आधुनिक भाषाओं का विकास प्रारंभ हो गया था। यह भाषा का मानकेतर अथवा अमानक रूप माना जाता है। अपभ्रंश भाषा में भी जैन साहित्य काफी मात्रा में उपलब्ध है।

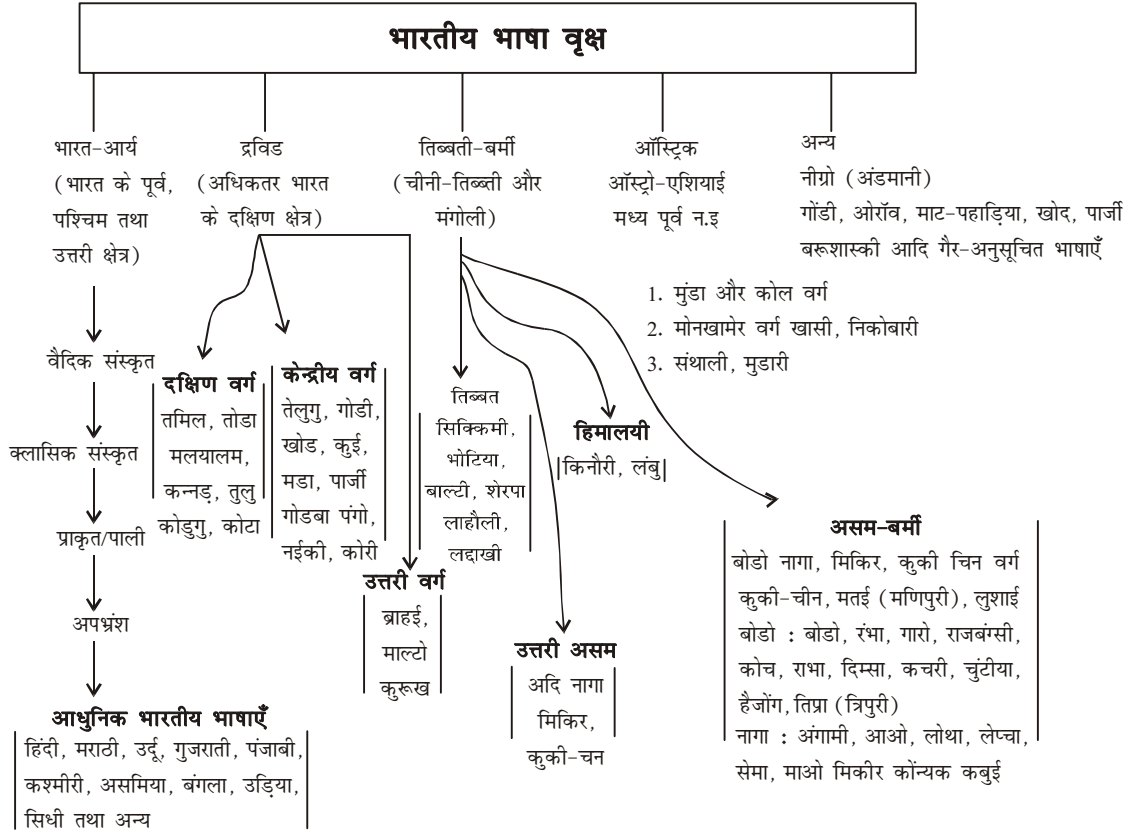
प्राकृत और अपभ्रंश से आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास हुआ, जिनमें हिन्दी, असमिया, बंगला, उड़िया, मराठी, गुजराती, पंजाबी, सिंधी, कश्मीरी, उर्दू आदि भाषाएँ उल्लेखनीय हैं। **इस प्रकार आर्य परिवार की भाषाओं का प्रयोग भारत के सबसे बड़े भू-भाग में होता है और इनके बोलने वालों की संख्या भी सर्वाधिक है।** भारत की जनगणना 1961 के अनुसार इस परिवार की 574 भाषाएँ बोली जाती हैं और इन्हें बोलने वालों में भारत की कुल जनसंख्या का 73.3 प्रतिशत है।

2. **द्रविड़ भाषा-परिवार** : यह दूसरा सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाषा-परिवार है जिसमें भारत के दक्षिण भाग की तमिल, तेलुगु, मलयालम, कन्नड़, तुलु आदि अनेक प्रमुख भाषाएँ समाविष्ट हैं। तमिल भाषा द्रविड़ परिवार की सर्वाधिक प्राचीन और शुद्ध भाषा है और संख्या की दृष्टि से तेलुगु सबसे बड़ी भाषा है। कन्नड़, मलयालम और तुलु छोटी और आधुनिक भाषाएँ हैं। इस भाषा-परिवार का भारतीय उपमहाद्वीप के बाहर किसी अन्य भाषा-परिवार से कोई संबंध नहीं है। इस परिवार की लगभग 150 भाषाएँ बोली जाती हैं और इसके बोलने वालों की संख्या भारत की कुल जनसंख्या का 24.47 प्रतिशत है। द्रविड़ भाषा-परिवार को मुख्यतः तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—**उत्तरी वर्ग, केन्द्रीय वर्ग और दक्षिण वर्ग।** 'उत्तरी वर्ग' में ब्राहुई, माल्टो और कुरुख तीन भाषाएँ हैं। ब्राहुई पाकिस्तान के एक भाग बलूचिस्तान में बोली जाती है, माल्टो बंगाल और उड़ीसा में बोली जाती है और कुरुख बंगाल, उड़ीसा, बिहार और मध्य प्रदेश में बोली जाती है। '**केन्द्रीय वर्ग**' में ग्यारह भाषाएँ आती हैं जो इस प्रकार हैं—तेलुगु, नैकी, कुवी, पेंगो, कोलमी, गोडबा, पार्जी, मंडा, कुइ, खोंड और गोंडी जो आंध्र प्रदेश और आस-पास बोली जाती हैं। इनमें तेलुगु भाषा के अलावा अन्य भाषाएँ जनजातीय भाषाएँ हैं। '**दक्षिणी वर्ग**' में तमिल, मलयालम, कन्नड़, तुलु, कोडुगु, टोडा और कोटा सात भाषाएँ आती हैं जो तमिलनाडु, केरल, कर्नाटक और आस-पास बोली जाती हैं।
3. **चीनी-तिब्बती भाषा-परिवार** : इसे **तिब्बती-बर्मी परिवार** या **मंगोलाई भाषा-परिवार** भी कहते हैं। यह परिवार भारत में, विशेषकर हिमालय में काफी फैला हुआ है। इसके अतिरिक्त, इस भाषा-परिवार की भाषाएँ उत्तर-बिहार, उत्तर-बंगाल और असम से भारत के उत्तर-पूर्वी सीमा क्षेत्रों में भी प्रयुक्त होती हैं। **ये भाषाएँ**

भारत-आर्य भाषाओं से भी प्राचीन मानी जाती हैं और प्राचीनतम संस्कृत साहित्य में 'किरात भाषाओं' के रूप में इसका उल्लेख है। इनमें से 'अहोम' भाषा को छोड़कर (जो अब समाप्तप्राय है) अधिकतर भाषाएँ तिब्बती-बर्मी उप-परिवार की भाषाएँ हैं। अहोम भाषा स्यामी-चीनी शाखा की भाषा है। तिब्बती-बर्मी भाषाओं को चार मुख्य वर्गों में बाँटा जा सकता है—तिब्बती, हिमालयी, उत्तर-असम और असम-बर्मी। 'तिब्बती वर्ग' के अंतर्गत सिक्किम, भोटिया, शेरपा, बाल्टी, लाहुली और लद्दाखी भारत की महत्वपूर्ण भाषाएँ हैं। जो सिक्किम, जम्मू-कश्मीर, हिमाचल प्रदेश और आस-पास बोली जाती हैं। 'हिमालयी' वर्ग की कनौरी और लिंबू दो महत्वपूर्ण भाषाएँ हैं। 'उत्तर-असम' अर्थात् उत्तर-पूर्वी सीमांत वर्ग में आदि (अबोर), मिरि, अक, दाफ्ला और मिश्मी भाषाएँ आती हैं। 'असम-बर्मी' वर्ग 'तिब्बती-बर्मी' भाषाओं का संख्या और संस्कृति की दृष्टि से महत्वपूर्ण वर्ग है। इसे भी चार मुख्य उपवर्गों में विभाजित किया जा सकता है: कुकी-चिन, बोडो, नागा और मिकिर। इस वर्ग के अंतर्गत असम की सिंधपो और त्रिपुरा की मोघ भी आती है जो म्यांमार में बोली जाने वाली भाषाओं से निकली हैं। कुकी-चिन उपवर्ग की सबसे अधिक महत्वपूर्ण भाषा मणिपुरी अथवा मैतेइ और लुशाई है। बोडो उपवर्ग में बोडो, राजबंग्सी, कोच, मैक, राभा, दिम्सा, कचरी, चुंटिया, गारो, हैजोंग और तिप्रा अर्थात् त्रिपुरी भाषाएँ मिलती हैं। मिकिर का बोडो भाषा से निकटतम संबंध है जो मिकिर की पहाड़ियों और असम के शिबसागर ज़िले में बोली जाती है। नागा उपवर्ग की मुख्य भाषाएँ अंगामी, सेमु, आओ, लोथा, माओ, कोन्यक, कबुइ और लेप्चा हैं। जो नागालैंड, अरुणाचल प्रदेश और आस-पास बोली जाती हैं। भारत की जनगणना 1961 के अनुसार इस परिवार में 226 मातृभाषाएँ हैं जिन्हें मोटे तौर पर 98 भाषाओं में विभाजित किया गया है।

4. आस्ट्रिक भाषा-परिवार : भारत की आस्ट्रिक भाषाएँ आस्ट्रो-एशियाई भाषा-परिवार से उद्भूत हुई हैं। इसे मुंडा अथवा कोल भाषा परिवार भी कहा जाता है। यह भाषा-परिवार उत्तर-पूर्व, पूर्वी और मध्य भाग में बोली जाती है। मोनखमेर भाषा वर्ग की खासी और निकोबारी भाषाएँ भी इसी भाषा-परिवार के अंतर्गत आती हैं जो मेघालय, अरुणाचल प्रदेश, निकोबार द्वीप तथा उसके आस-पास के क्षेत्रों में बोली जाती हैं। ये बहुत प्राचीन भाषाएँ हैं जिनका उल्लेख 'निषाद' जैसे प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में मिलता है। आस्ट्रिक भाषा-परिवार की सबसे महत्वपूर्ण भाषा संथाली है जो आदिवासी भाषाओं में सबसे ज़्यादा बोली जाती है। मुख्यतः संथाली, झारखंड और उसके आस-पास बोली जाती हैं। इसी वर्ग की मुंडारी भाषा का भी महत्वपूर्ण स्थान है। भारत की जनगणना 1961 के अनुसार इस परिवार की 65 भाषाएँ बोली जाती हैं, किंतु जनगणना 2001 के अनुसार इसके बोलने वाले की संख्या मात्र 1.11 प्रतिशत है।

उपर्युक्त चार भाषा-परिवारों के अतिरिक्त 'नीग्रो भाषा-परिवार' की अंडमानी भाषाएँ अंडमान द्वीप में बोली जाती हैं। इन भाषाओं का संबंध पापुइ भाषाओं से किया गया है जो न्यूगिनी में बोली जाती हैं। द्रविड़ परिवार की कुछ आदिवासी भाषाएँ हैं जिनमें गोंडी, ओराँव अथवा कुरुख और माल-पहाड़िया महत्वपूर्ण हैं। एक अन्य भाषा 'बरुशास्की' कश्मीर के एक भाग में बोली जाती है। ये भाषाएँ अपने-आप में विशिष्ट हैं, जो अवर्गीकृत भाषाएँ हैं और इन्हें किसी भी अन्य भाषा-परिवार में रखा नहीं जा सकता। भारत की भाषाओं को निम्नलिखित 'भारतीय भाषा वृक्ष' के अंतर्गत स्पष्ट रूप से बताया गया है।



महत्त्वपूर्ण प्रश्न

1. भारतीय भाषा परिवारों का नाम लिखिए।
2. भारत-आर्य भाषा परिवार का परिचय दीजिए।
3. द्रविड़ भाषा-परिवार की विशेषताएँ लिखिए।

(ii) भाषा : प्रकृति और स्वरूप

डॉ. राम प्रकाश
पूर्व रीडर, हिंदी-विभाग
मुक्त शिक्षा विद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

हिंदी भाषा के प्रयोग के विविध रूप

भाषा निरंतर प्रयोग के सहारे जीवित रहती है, विकसित और पल्लवित होती है। भाषा का मूल प्रकार्य है—संप्रेषण। संप्रेषण की पूर्णता पारस्परिक संवाद द्वारा ही संभव है। यह संवाद किसी व्यक्ति द्वारा अकेले न होकर, अपने ही वर्ग, समुदाय या क्षेत्र के अन्य व्यक्तियों के साथ होता है। संवाद में सदा एकरूपता संभव नहीं। **व्यक्ति, स्थान, संदर्भ और विषय के अनुसार एक ही भाषा का प्रयोग** विभिन्न रूपों में करता है। इस प्रकार, भाषा की गतिशीलता की धुरी 'प्रयोग' है। जैसे किसी यंत्र के निरन्तर प्रयोग में न रहने पर, उसमें जंग लग जाता है, उसकी कार्यक्षमता और गतिशीलता अवरुद्ध हो जाती है, वैसे ही प्रयोग के अभाव में भाषा किसी गड्ढे में ठहरे जल के समान धीरे-धीरे सूखकर समाप्त हो सकती है। प्रयोग की खराद पर चढ़कर ही भाषा निखरती, संवरती और विविध रूपा होती है।

भाषा-प्रयोग के विभिन्न स्तर और संदर्भ संभव हैं। एक व्यक्ति किसी नगर का बहुत बड़ा व्यापारी है। वह प्रायः मिली-जुली भाषा (हिंदुस्तानी) के प्रयोग का अभ्यस्त है; क्योंकि समाज के विभिन्न वर्गों के लोगों से उसका संपर्क बना रहता है। फिर भी उसके भाषा-प्रयोग में विविधता देखी जा सकती है। उदाहरण—

(1) (अपने ही वर्ग के व्यापारी से)—देखो भाई अपना तो एक उसूल है—कम कमाई, खरी कमाई। माल लायेंगे बढ़िया, दाम लेंगे बढ़िया।

(2) (अपने मुनीम (अकाउंटेंट) से)—अरे तुम उसूल को मारो गोली! ऐसा अकाउंटेंट तैयार करो कि आमदनी कम और खर्च अधिक दिखायी दे!

(3) (आयकर अधिकारी से)—हुजूर! मेरा बिजनेस तो शीशे की तरह साफ है। रिकार्ड देख लीजिए, निश्चित मियाद से पहले ही हमारी रिटर्न जमा हो जाती है। रिटर्न और अकाउंट बुक्स में कमी एक पैसे का फर्क नहीं मिलेगा। सेल्स टैक्स भी सदा समय पर जमा करा देता हूँ। हुजूर, आपने जो एसेसमेंट की है वह तो बहुत ज्यादा है। जरा फिर से गौर फरमाने की कृपा करें।

(4) (पत्नी से)—अजी! सुनती हो, उस आई.टी.ओ. के बच्चो को आज मैंने ऐसा मस्का लगाया, ऐसा उल्लू बनाया कि देखता ही रह गया। बच्चू को उसी वक्त एसेसमेंट काटकर आधी करनी पड़ी। बिजनेस चलाना मजाक नहीं। तिकड़म चाहिए और चाहिए दिमाग!

(5) (विद्यालय के वार्षिकोत्सव पर अध्यक्ष पद से)—आदरणीय प्राचार्य महोदय, अध्यापक महानुभाव और प्यारे विद्यार्थियों! आप लोगों ने मुझे यहाँ आमंत्रित करके जो सम्मान दिया है, उसके लिए मैं आप सबका हृदय से आभारी हूँ। मैं शिक्षा के सिद्धांतों से अपरिचित हूँ। बस, इतना कह सकता हूँ, आप ही हमारे समाज के, देश के निर्माता हैं, कर्णधार हैं।

उपर्युक्त उदाहरणों में भाषा-प्रयोग की विविधता स्पष्ट है। ये सभी भाषा के 'सामान्य प्रयोग' के उदाहरण हैं; क्योंकि इनमें भाषा का असामान्य (अशुद्ध, प्रतीकात्मक या आलंकारिक) प्रयोग नहीं किया गया।

सामान्य प्रयोग

भाषा के सभी बहुप्रचलित प्रयोग उसके सामान्य प्रयोग हैं। भाषा के प्रायः जिस रूप का हम अपने विचार-विमर्श, कार्य-व्यवहार एवं वार्तालाप-संभाषण आदि में प्रयोग करते हैं वह प्रायः 'सामान्य' रूप ही होता है। वह व्याकरण-सम्मत, समाज द्वारा स्वीकृत एवं संरचना और अर्थ के स्तर पर सामान्यतः शुद्ध होता है। 'असामान्यता' अर्थात् अनोखापन, नयापन या विलक्षणता उसमें तभी होगी जब किसी शब्द का उससे प्रचलित अर्थ से हटकर, किसी 'नवीन अर्थ' में प्रयोग किया जाए (जैसे साहित्य में), किसी वाक्य का गठन व्याकरण-सम्मत नियमों से भिन्न किसी अन्य प्रकार से ही (जैसे काव्य की लाक्षणिक भाषा में) या कोई ऐसा जो हमारे तात्पर्य का सम्यक सम्प्रेषण न करा सके (जैसे किसी एक विषय की शब्दावली का प्रयोग अन्य विषय में)।

पत्र-पत्रिकाओं में, विद्यालय या विश्वविद्यालय के कक्षा में, दूरदर्शन और आकाशवाणी में, धर्म-चर्चा या चुनाव-चर्चा में, घर-बाजार या बस-रेलयात्रा में, मिल-मजदूरों की किसी गोष्ठी अथवा किसानों की चौपाल में, बच्चों के क्रीड़ांगन में या युवकों के आलाप-संलाप में—सर्वत्र भाषा का सामान्य प्रयोग ही देखा-सुना जाता है। इसके लिए वक्ता-श्रोता को किसी विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं। परम्परा, संस्कार और अभ्यास द्वारा स्वतः ही भाषा के सामान्य प्रयोग की दक्षता का विकास होता रहता है।

असामान्य प्रयोग

'असामान्य' शब्द 'सामान्य' का विपरीतार्थी है। 'सामान्य' का अभिप्राय है परम्परागत, बहुप्रचलित एवं प्रायः व्याकरण-सम्मत। इसी सन्दर्भ में भाषा के असामान्य प्रयोग का अभिप्राय है—उसके बहुप्रचलित, समाज-स्वीकृत, परम्पराबद्ध और व्याकरण-सम्मत रूप से हटकर, उससे भिन्न रूप में किया गया प्रयोग। इस प्रकार का प्रयोग जो कथन में निहित कथ्य का सहज रूप से सम्प्रेषण न करा सके।

हम अपने विचार-विमर्श, कार्य-व्यवहार, आलाप-संलाप और संभाषण आदि में प्रायः भाषा का 'सामान्य' प्रयोग ही करते हैं। परन्तु विभिन्न प्रयोजनों के लिए निम्नलिखित प्रकार की भाषा का प्रयोग 'असामान्य' होगा—

(अ) मैं जब स्टेशन पर चला तब गाड़ी उड़ चुकी थी।

(ख) वस्तु जो चार है हर भाव का रुपये किलो यहाँ ले जाइए।

(ग) मोटर की स्पीड तेज कर दो, रास्ता बहुत ऊबड़-खाबड़ है।

(ग) हमारे को चिंता स्वार्थ की न करके वह लोगों के संबंधित में भी सोचना चाहिए, सभी की आवश्यकताएँ हमारे से अधिक थी ताकि वह को सुविधाएँ हमारे से कम प्राप्त हुईं।

यहां पहले वाक्य में 'स्टेशन पर चला' और 'गाड़ी उड़ चुकी थी' असामान्य प्रयोग हैं। स्टेशन की ओर चला' या 'स्टेशन पर पहुँचा' परंपरासम्मत हैं। गाड़ी उड़ती नहीं, चलती है।

दूसरे वाक्य में भाषा का अव्यवस्थित प्रयोग होने के कारण 'असामान्य' है। न तो कर्ता-कर्म-क्रिया की नियमित व्यवस्था है न विशेषण-विशेष्य क्रमानुसार व्यवस्थित हैं। योजक अव्ययों तथा कारक विभक्तियों का प्रयोग भी अव्यवस्थित है।

तीसरे वाक्य में प्रयोजन (तात्पर्य) की अंसंगति के कारण असामान्यता है। कार्य (स्पीड तेज करना) और कारण (रास्ता ऊबड़-खाबड़ होना) में संगति नहीं है। 'तेज' के स्थान पर 'कम' या 'ऊबड़-खाबड़' के स्थान पर 'साफ-समतल' प्रयोग सामान्य होता।

चौथे उदाहरण में व्याकरणिक नियमों का पालन न होने के कारण तो भाषा-प्रयोग 'असामान्य' है ही, सर्वमान्यता की अनुरूपता का न होना भी इसे 'असामान्य प्रयोग' बना देता है। 'वह लोगों, 'आवश्यकताएँ थीं', 'सुविधाएँ हुईं' इनमें वचन की असमानता है।

सामान्य एवं असामान्य प्रयोग में अंतर

भाषा के 'सामान्य' 'असामान्य' प्रयोग का अन्तर एक रूपक द्वारा सरलता से समझा जा सकता है। भाषा का सामान्य प्रयोग किसी खिड़की के उस साफ-सुथरे, अखण्डित, पारदर्शी शीशे के समान है जो अपने पीछे के सम्पूर्ण अर्थ-जगत् की झाँकी स्पष्ट दिखला देने में सक्षम है। दूसरी ओर 'असामान्य प्रयोग' उस खण्डित शीशे के समान है जिसमें जगह-जगह आड़ी-तिरछी दरारें होने के कारण; वह केवल छोटे-बड़े टुकड़ों के ढेर-सा प्रतीत होता है और उसके माध्यम से पार के वस्तु-जगत् (अर्थ-प्रयोजन) को स्पष्टतः देख और पहचान पाना संभव नहीं हो पाता।

इसी प्रकार विषयवस्तु, अवसर, क्षेत्र और ज्ञान-विज्ञान के आधार पर भाषा के प्रयोग में विविधता आ जाती है। एक डॉक्टर जिस तरह से अपने सहयोगियों, तकनीशियनों और रोगियों से विभिन्न रोगों और उसके उपचार के लिए जिस तरह की भाषा का प्रयोग करता है, उसी प्रकार को वैज्ञानिक या प्रौद्योगिकी विशेषज्ञ अपने-अपने क्षेत्र और विषय को लेकर भिन्न भाषा प्रयोग का उपयोग करते हैं।

जनसंचार के क्षेत्र से जुड़े लोग और कार्यालय और प्रशासन से जुड़े लोग अपने-अपने क्षेत्र और विषयवस्तु को बिल्कुल भिन्न प्रकार से उसी भाषा में अभिव्यक्त करते हैं जिस तरह अध्यापक और निर्देशक अपने विद्यार्थियों या प्रशिक्षुओं को किसी विषय की जानकारी देना चाहेगा और उनसे प्रतिउत्तर चाहेगा ठीक उसी प्रकार कला और संस्कृति से जुड़े लोग अपने-अपने विषय को भिन्न तरह से अभिव्यक्त दे पाते हैं। कहीं औपचारिकता होगी कहीं अनौपचारिकता, कहीं सामान्य रूप होगी कहीं व्यावहारिक तो कहीं कानून और तकनीकी भाषा रूप का अनुभव मिलेगा।

इसका मतलब साफ है कि भाषा चाहे एक ही (हिंदी) क्यों न हो, उसके प्रयोग के स्तर प्रकृति और स्वरूप में हमेशा अंतर आता जाता है।

भाषा और समाज

भाषा प्रयोग के विभिन्न स्तरों और स्वरूप के संदर्भ में इस तथ्य को समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी कि कोई भी भाषा किसी-न-किसी समाज और जनसमुदाय के भीतर ही जन्म लेती है और विकसित भी होती है। इसे दूसरी तरह यूँ भी कहा जा सकता है कि भाषा और समाज का संबंध अभिन्न है, एक सिक्के के दो पहलुओं जैसा है।

हर तरह के समाज और भाषा-भाषियों के बीच भिन्न-भिन्न भाषा रूपों का विकास होता है। हिंदी भाषा के इतिहास की ओर ध्यान दें तो स्पष्ट होगा कि संस्कृत से हिंदी खड़ी बोली तक की यात्रा कोई आसान और सपाट नहीं रही। संस्कृत के उपयोग तथा व्यवहार-भेद के कारण वैदिक और लौकिक संस्कृत के स्वरूप और वर्गीकरण से हम अपरिचित नहीं हैं। उसके बाद 'पालि' और 'प्राकृत' भाषा-स्वरूप की व्युत्पत्ति और विकास का कारण भी उसका प्रयोक्ता समाज रहा है। लौकिक संस्कृत बोलने वाले समाज के भीतर से ही धीरे-धीरे ऐसे लोग उभरने लगे थे जिन्होंने लौकिक संस्कृत के शब्द-रूप, व्याकरण और पदों के साथ-साथ थोड़ा भिन्न भाषा रूप अपनाना शुरू कर दिया। वही आगे चलकर पालि और प्राकृत भाषा-रूप में परिवर्तन हो गया।

भाषा के प्रयोग करने वालों के कारण और समय तथा परिस्थिति और सभ्यता-संस्कृति, आचार-व्यवहार के बदलाव ने ही 'अपभ्रंश' अवहट्ट और 'पुरानी हिन्दी' कहे जानेवाले भाषा-रूप को जन्म दिया। **उसके बाद हिन्दी की बोलियों और उपभाषाओं का उभरकर आना और समाज-व्यवहार का साधन बनाना इसी अभिन्न और अनिवार्य संबंध का परिचायक है। जिसे कबीर ने 'बहते नीर' की संज्ञा देकर भाषा समाज की अनिवार्यता के रूप में संकेतिक किया है।**

भाषा और समाज के इस स्वरूप को हम आज के प्रयोग-बहुलता के युग में विषय-क्षेत्र की विविधता और संश्लिष्टता के रूप में भी समझ सकते हैं। ज्ञान-विज्ञान के प्रचार-प्रसार, कानून और प्रौद्योगिकी की विविधता के साथ-साथ वाणिज्य-व्यापार के बढ़ते हुए प्रभाव ने भाषा और उसके प्रयोक्ताओं के अन्योन्याश्रित सहज संबंध को स्थापित किया है। आज के बाजारवाद के युग में मानव समुदाय और संस्कृति में नए-नए शब्दों, पदों और क्रिया रूपों का प्रयोग-प्रचलन बढ़ा है। अंग्रेजी भाषा के प्रयोग में तो विविधता आई ही है, साथ ही, हिन्दी के शब्द-भंडार वाक्य-संरचना और भाषा-व्यवहार में अनेक प्रकार के विकास हो रहे हैं। जिस प्रकार पहले 'कूट संदेश' भेजने के लिए

किसी-न-किसी 'कोड', भाषा का उपयोग होता था। चाहे वह सैनिक अधिकारियों की आवश्यकता हो या क्रान्तिकारियों और स्वतन्त्रता सेनानियों की विचार आदान-प्रदान की आवश्यकता हो, उनके भाषा-प्रयोग सर्वथा भिन्न, निश्चित तथा रूढ़ होते थे। **उसी प्रकार आजकल सरल-मोबाइल-संदेश (एस.एम.एस.) और इंटरनेट के युग में ईमेल और कम्प्यूटर पर चैटिंग की भाषा में पर्याप्त विविधता आई है।**

इससे यह तथ्य सामने आया कि जनसमुदाय, विषय-वस्तु, प्रयोग-व्यवहार, उद्देश्य और प्रयोजनीयता ने भाषा और समाज के अनिवार्य संबंध को सहज रूप में परिभाषित कर दिया है।

भाषा और बोली में अंतर

'भाषा' और 'बोली' के स्वरूप को दृष्टिगोचर रखकर, इन दोनों के अन्तर को सरलता से समझा जा सकता है। "मानक भाषा किसी देश अथवा राज्य का वह प्रतिनिधि और परिनिष्ठित माध्यम होता है जिसका उपयोग वहाँ के शिक्षित-शिष्ट समुदाय द्वारा अपने शैक्षणिक, साहित्यिक, वाणिज्यिक, प्रशासनिक और सामाजिक-सांस्कृतिक कार्य-कलाप के माध्यम के रूप में किया जाता है।" दूसरी ओर, "किसी एक सीमित क्षेत्र में जन-सामान्य द्वारा आपसी बोलचाल में प्रयुक्त होने वाला माध्यम 'बोली' कहलाता है।" इस दृष्टि में 'भाषा' और 'बोली' में प्रमुखतया निम्नलिखित विभेदक रेखाएँ अंकित की जा सकती हैं—

(1) 'भाषा' विकास-प्रक्रिया का चरम (उच्चतम) रूप होता है। एक क्षेत्र की अनेक बोलियों में से ही कोई एक बोली सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक कारणों से विकसित होकर क्रमशः उपभाषा-विभाषा और अन्त में परिनिष्ठित (मानक) भाषा बन जाती है।

इसके विपरीत 'बोली' किसी भी भाषा की प्रारंभिक बोलचाल की अवस्था होती है। उसे सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, साहित्यिक, शैक्षणिक और प्रशासनिक दर्जा प्राप्त नहीं होता।

(2) 'भाषा' का भौगोलिक क्षेत्र विस्तृत होता है जबकि 'बोली' का बहुत सीमित। कारण यह है कि भाषा अपने क्षेत्र के सभी अंचलों के अतिरिक्त आसपास के क्षेत्रों से भी सम्पर्क का माध्यम होती है, किंतु 'बोली' केवल अपने अंचल में ही व्यवहार में लाई जाती है।

(3) 'भाषा' व्याकरण-सम्मत और प्रायः शुद्ध होती है। 'बोली' का कोई व्याकरण या उसकी कोई नियम-संहिता नहीं होती। उसके विभिन्न प्रयोग भाषा-विज्ञान या व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध भी माने जा सकते हैं।

(4) 'भाषा' अपने क्षेत्रों के भीतर और बाहर—सर्वत्र एक रूप रहती है। उसकी शब्दावली, वाक्य-विन्यास एवं अन्य अभिव्यंजना-कोटियाँ प्रायः सर्वत्र समान होती हैं। 'बोली' अपने ही क्षेत्र के प्रयोक्ताओं में भिन्न-भिन्न रूप लिये रहती है। उसमें एकरूपता का अभाव ही उसे 'बोली' के स्तर से ऊँचा नहीं उठने देता। अपने क्षेत्र से बाहर तो कोई 'बोली' शायद पूरी तरह समझी भी नहीं जा सकती।

(5) 'भाषा' मौखिक और लिखित—दोनों ही रूपों में समान रूप से प्रयुक्त होती है। उसके लिखित रूप और लिपि अपना एक निश्चित स्वरूप लिये रहते हैं। उसकी वर्तनी के नियम और रूप निश्चित होते हैं। दूसरी ओर, 'बोली' अधिकतर मौखिक रूप में ही प्रयुक्त होती है। किसी-किसी 'बोली' के कुछ उच्चरित रूपों को तो पूरी तरह लिपिबद्ध करना ही कठिन होता है।

(6) 'भाषा' शिक्षा, साहित्य, पत्राचार, सरकारी कामकाज, कला-संस्कृति, वाणिज्य-व्यवसाय, धर्म, राजनीतिक, समाज आदि में अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण का सक्षम माध्यम बन सकती है। 'बोली' में यह क्षमता नहीं होती। कहीं-कहीं धर्म-चर्चा या आपसी बातचीत में, घर-बाजार या उस क्षेत्र में सार्वजनिक स्थानों पर जन-सामान्य उसे अवश्य अभिव्यक्ति या सम्प्रेषण-माध्यम के रूप में प्रयोग कर सकते हैं; किन्तु उसके माध्यम से शिक्षा नहीं दी जा सकती, आधिकारिक पत्राचार नहीं किया जा सकता।

(7) 'भाषा' अधिकतर औपचारिक रूप लिये रहती है और 'बोली' अनौपचारिक।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि व्यक्ति, समाज और विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में, विचारों के आदान-प्रदान का कार्य जितना सफलता से 'भाषा' द्वारा सम्पन्न हो सकता है, उतना 'बोली' द्वारा नहीं।

(iii) भाषा नीति का उद्भव और विकास

डॉ. रामप्रकाश
पूर्व रीडर, हिंदी विभाग
मुक्त शिक्षा विद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

आधुनिक युग में हिन्दी भारत की राष्ट्रीय अस्मिता की प्रतीक बन गई। इसका कारण है कि एक विदेशी भाषा (अंग्रेजी) को बलपूर्वक और छलपूर्वक यहाँ प्रतिष्ठित करके, देशवासियों को जिस प्रकार दासता के जाल में जकड़ने का प्रयास किया गया उससे जागरूक लोकचेता मनीषियों का चौकन्ना होना स्वाभाविक था। इस सम्बन्ध में कथाशिल्पी, उपन्यास-सम्राट मुंशी प्रेमचन्द का यह कथन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—

“भारत की राष्ट्रीयता एक राष्ट्रभाषा पर निर्भर है और दक्षिण के हिन्दी-प्रेमी राष्ट्रभाषा का प्रचार करके राष्ट्र का निर्माण कर रहे हैं। राष्ट्रभाषा के बिना राष्ट्र का बोध हो ही नहीं सकता। जहाँ राष्ट्र है, वहाँ राष्ट्रभाषा का होना लाजिमी है। अगर सम्पूर्ण भारत को एक राष्ट्र बनना है तो उसे एक भाषा का आधार लेना पड़ेगा।”

ब्रिटिश शासन और भाषा नीति

हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में आधुनिक युग का आरम्भ सन् 1850 ई. के आसपास से माना जाता है। यद्यपि इससे एक सौ वर्ष पहले से ही ‘ईस्ट इंडिया कम्पनी’ के रूप में अंग्रेज विदेशियों ने अपने भाषायी कूटनीति का जाल फैलाना आरम्भ कर दिया था तथापि अनेक वर्षों तक उनका यह षड्यन्त्र भारतीय जनता समझा नहीं पाई। इसका एक कारण यह भी था कि ब्रिटिश शासन ने भारत में अपने साम्राज्य की जड़ें मजबूत करने के लिए जो शिक्षा-नीति और भाषा-नीति अपनाई उसमें हिंदी को भी प्रमुख स्थान प्राप्त था, क्योंकि उसके बिना वे भारतीय जनता पर शासन कर ही नहीं सकते थे। सन् 1800 ई. में कलकत्ता में जब फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की गई तो उसमें हिन्दी (जिसे वे ‘हिन्दुस्तानी’ कहते थे) विभाग खोला गया। यहीं भारत की बहुप्रचलित कौरवी बोली को ‘स्टैंडर्ड डायलेक्ट’ (खड़ी बोली) ‘हिन्दी’ के रूप में विकसित होने का अवसर मिला। इसी कॉलेज की शिक्षा-नीति के अन्तर्गत इस खड़ी बोली हिन्दी में अनेक पुस्तकें लिखवाई गईं। धीरे-धीरे हिन्दी का यह रूप देश-भर में, शिक्षा और साहित्य, बोलचाल और पत्र-व्यवहार, संवाद-संचार (समाचारपत्र) आदि में विकसित और प्रचलित होता गया।

सन् 1801 ई. में ईस्ट इंडिया कम्पनी सरकार ने यह घोषणा की कि प्रशासनिक सेवा (सिविल सर्विस) में केवल उसी व्यक्ति को जिम्मेदारी के पद पर नियुक्त किया जाए जिसे गवर्नर जनरल द्वारा बनाए गए कानूनों को अमल में लाने के लिए हिन्दुस्तानी (अर्थात् खड़ी बोली हिन्दी) का भी ज्ञान हो। इसीलिए विलिमय प्राइस, फ्रेडरिक जॉनशोर, बैलंटाइन, मैटकॉफ, फ्रेडरिक पिन्कॉट आदि ने हिन्दी सीखी।

उल्लेखनीय है कि यह सब काम भारत के एक अहिन्दी भाषी क्षेत्र (कलकत्ता) में हो रहा था, हिन्दी प्रकारान्तर से राष्ट्रभाषा के रूप में मान्य हो चुकी थी। फोर्ट विलियम कॉलेज के प्रिंसिपल गिलक्रिस्ट से हिन्दी सीखकर, मैटकॉफ महोदय ने जब दिल्ली के ‘असिस्टेंट रेजिडेंट’ का पद संभाला तो उन्होंने 29 अगस्त, 1806 ई. को अपने हिन्दी-शिक्षक के नाम जो पत्र लिखा वह उस समय हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने का ज्वलन्त प्रमाण है—

“भारत के जिस भाग में भी मुझे काम करना पड़ा है, कलकत्ता से लेकर लाहौर तक, कुमाऊँ के पहाड़ों से नर्मदा तक, अफगानों, मराठों, राजपूतों, जाटों, सिखों और उन प्रदेशों के सभी कबीलों में जहाँ मैंने यात्रा की है, मैंने उस भाषा का आम व्यवहार देखा है जिसकी शिक्षा आपने मुझे दी थी।...मैं कन्याकुमारी से काश्मीर तक इस विश्वास से यात्रा करने

की हिम्मत कर सकता हूँ कि मुझे हर जगह ऐसे लोग मिल जाएँगे जो हिन्दुस्तानी बोल लेते हैं।” (जे.वी. गिलक्रिस्ट : ‘ए वेकुबलरी हिन्दुस्तानी एंड इंग्लिश, इंग्लिश एंड हिन्दुस्तानी’ से अवतरित) ‘हिन्दुस्तानी’ से यहाँ अभिप्राय सहज-सुबोध खड़ी बोली हिन्दी से है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि विदेशी अँग्रेज़ शासकों को समूचे भारत राष्ट्र में जिस भाषा का सर्वाधिक प्रयोग, प्रसार और प्रभाव दिखाई दिया वह हिन्दी थी।

पत्रकारिता का योगदान : आधुनिक युग में हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में विधिवत प्रतिष्ठित कराने में हिन्दी पत्रकारिता का योगदान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। 30 मार्च, सन् 1826 ई. को कलकत्ता से प्रारम्भ होने वाले हिन्दी के सबसे पहले पत्र ‘उदन्त मार्तण्ड’ के प्रकाशन का उद्देश्य ही यही था कि लोगों को परायी भाषा से विरत करके अपनी भाषा की ओर उन्मुख किया जाए—

“यह उदन्त मार्तण्ड अब पहले-पहल हिन्दुस्तानियों के हित के हेतु जो आज तक जो अब तक किसी ने भी नहीं चलाया पर अँग्रेज़ी ओ बंगाले में जो समाचार का कागज़ छपता है, उसका सुख उन बोलियों को जानने और पढ़ने वालों को ही होता है और सब लोग पराए सुख सुखी होते हैं जैसे पराए धन धनी होना।” (प्रथम सम्पादकीय का एक अंश)

अँग्रेज़ी को परायी भाषा मानकर, अपनी निजी भाषा हिन्दुस्तानी में अखबार निकालने की यह तड़प वास्तव में राष्ट्रीय चेतना के सन्दर्भ में हिन्दी के महत्त्व को ही स्वीकार करने की शुरुआत थी। राष्ट्रकवि रामधारी सिंह ‘दिनकर’ के कथनानुसार यह एक अद्भुत संयोग ही कहा जाएगा कि—

“जैसे उन्नीसवीं शताब्दी में बंगोत्पन्न भारतीय नेताओं ने देश को धार्मिक एवं जातीय एकता के विषय में सावधान किया, उसी प्रकार पहले पहल यह आवाज़ भी बंगाल से उठी कि भारतीय राष्ट्रीयता की अभिवृद्धि के लिए अँग्रेज़ी के स्थान पर किसी भारतीय भाषा को प्रतिष्ठित करना नितान्त आवश्यक है और वह भाषा एकमात्र हिन्दी ही हो सकती है।”

बंगाल के ही एक समकालीन वरिष्ठ पत्रकार केशवचन्द्र सेन ने अपने समाचारपत्र में सन् 1857 ई. में यह लेख प्रकाशित किया—“हिन्दी ही अखिल भारत की जातीय भाषा या राष्ट्रभाषा बनने के योग्य है।” इस लेख की कुछ पंक्तियाँ यहाँ उल्लेखनीय हैं—

भाषा और राष्ट्रीय आंदोलन

सन् 1857 ई. में भारत का प्रथम स्वाधीनता-संग्राम लड़ा गया। इसमें सर्वत्र हिन्दी ही माध्यम थी, अँग्रेज़ी या फारसी नहीं। सभी क्रान्ति-समाचार, संवाद और सन्देश हिन्दी में प्रसारित किए गए थे। उस प्रथम स्वाधीनता-संग्राम का मुखपत्र ‘पयाम-ए-आजादी’ (जिसका हिन्दी अर्थ है—स्वतन्त्रता-सन्देश) था जो दिल्ली से देवनागरी (हिन्दी) और फारसी (उर्दू)—दोनों लिपियों में निकलता था। प्रसिद्ध राष्ट्रभक्त और स्वतन्त्रता सेनानी अज़ीम-उल्ला खान इसके सम्पादक थे।

भारतेन्दु, दयानन्द और अन्य विचारक : सन् 1873 ई. में ‘अपनी’ भाषा अर्थात् राष्ट्र और जनता की भाषा को ‘स्वदेशीपन’ के साथ जोड़ते हुए आधुनिक युग के प्रवर्तक भारतेन्दु हरिचन्द्र ने यह उद्घोष किया—

जिन भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।

बिन निज भाषा ज्ञान कै; मिटै न हिय को सूल।।

प्रचलित करहु जहान मैं, निज भाषा करि जल।

राज-काज दरबार में, फैलावहु यह रत्न।।

इसी वर्ष, अर्थात् सन् 1873 ई. में गुजरात के प्रसिद्ध दार्शनिक विचारक और समाज-सुधारक विद्वान **महर्षि दयानन्द सरस्वती** ने ‘आर्य-समाज’ की स्थापना की और उसके दस नियमों के अन्तर्गत पाँचवाँ नियम यह बताया कि प्रत्येक आर्य समाजी के लिए हिन्दी पढ़ना अनिवार्य है। इसमें धार्मिक एवं सामाजिक स्तर पर हिन्दी को समूचे राष्ट्र की जन-भाषा बनने में बहुत सहायता मिली।

सन् 1904 ई. में कलकत्ता के प्रमुख हिन्दी-पत्र 'भारत-मित्र' में, प्रसिद्ध बंगला कथाकार **बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय** का लेख 'भारत की एकता' शीर्षक से छपा जिसमें उन्होंने कहा—

“अँग्रेजी भाषा में चाहे जो हो लेकिन हिन्दी सीखे बिना नहीं चल सकता। हिन्दी भाषा में किताब और भाषण से भारत के अधिकांश का मंगल होगा।...हिन्दी भाषा के सहारे जो लोग विभिन्न प्रदेशों में एकता कायम कर सकेंगे, वही वास्तव में 'भारत-बन्धु' के नाम से पुकारे जाएँगे।” (भारत मित्र 1904 ई.)

योगीराज अरविन्द के कथनानुसार भी राष्ट्रीय एकता और स्वाधीनता का एकमात्र आधार-सूत्र राष्ट्रभाषा हिन्दी हो सकती थी—

“जिस दिन हम अखंड स्वरूप भारत-मूर्ति के दर्शन करेंगे...उस दिन यह बाधा तिरोहित हो जाएगी, भारत की एकता, स्वाधीनता और उन्नति सहज साध्य हो जाएगी, उस दिन भाषा-भेद के कारण कोई बाधा उपस्थित नहीं होगी। सब लोग अपनी-अपनी मातृभाषा की रक्षा करते हुए आधारिक भाषा के रूप में हिन्दी भाषा को ग्रहण करेंगे और वह बाधा दूर हो जाएगी।” (धर्म और जातीयता, पृष्ठ 94)

स्पष्ट है कि हिन्दी-क्षेत्र से बाहर के प्रदेशों के अधिकांश विद्वान और विचारक भी राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की प्रतिष्ठा में संलग्न थे। इसी सन्दर्भ में, गुजरात के बड़ौदा-नरेश, बंगाल के रमेशचन्द्र दत्त तथा महाराष्ट्र के डॉक्टर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर महोदय ने मिलकर सन् 1909 ई. में बड़ौदा में एक महत्वपूर्ण आयोजन किया जिसमें हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में मान्य कराने का संकल्प व्यक्त किया गया।

राष्ट्रीय आन्दोलन और महात्मा गाँधी

धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक स्तर पर तो हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने के अनेक उल्लेखनीय प्रयास बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक हुए ही, राजनैतिक स्तर पर इस दिशा में सबसे अधिक योगदान मिला भारत के स्वाधीनता आन्दोलन से जिसके सूत्रधार थे—महात्मा गाँधी। उनकी मातृभाषा गुजराती थी और उच्चशिक्षा उन्होंने अँग्रेजी के माध्यम से प्राप्त की। भारत के राजनैतिक मंच पर उनका अभ्युदय सन् 1916 ई. के आसपास हुआ। इससे पहले वे हिन्दी अच्छी तरह नहीं जानते थे, कुछ-कुछ समझ सकते थे। तब उन्होंने स्वाध्याय के बलपर हिन्दी का समृद्ध ज्ञान प्राप्त किया। सन् 1916-17 ई. में कलकत्ता के कांग्रेस अधिवेशन में वे पहली बार एक राष्ट्रीय नेता के रूप में उभरे और तभी से उन्होंने एक राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को प्रतिष्ठित करना अपने समूचे स्वदेशी आन्दोलन तथा राष्ट्रीय कार्यक्रम का अभिन्न अंग बना लिया। 1916 ई. में ही उन्होंने अधिवेशन का सारा कार्य हिन्दी में चलाने का शुभारम्भ कराया। यहाँ तक कि अधिवेशन के अध्यक्ष लोकमान्य तिलक से भी उन्होंने हिन्दी में भाषण देने का आग्रह किया। श्रीमती एनी बेसेंट द्वारा इसपर तनिक असहमति का भाव दिखाने पर गाँधी जी ने स्पष्ट कहा—

‘कांग्रेस का करीब-करीब सारा ही काम अँग्रेजी में चलाने में राष्ट्र को बहुत नुकसान उठाना पड़ा है।...इन तमाम वर्षों में लम्बे समय में कांग्रेस दिखाने भर को राष्ट्रीय रही है। लोक-शिक्षा की सच्ची कसौटी पर उसे कसें, उसकी कीमत कूटें तो कहना होगा कि वह कभी राष्ट्रीय नहीं थी।’ (यंग इंडिया, 20 जनवरी, 1920 ई.)

गाँधीजी की इस भावना को श्रेष्ठ मराठी विद्वान और अँग्रेजी के ओजस्वी वक्ता लोकमान्य तिलक ने सच्चे हृदय से स्वीकार किया। कलकत्ता से लौटते हुए, कानपुर में उन्होंने (सन् 1917 ई. में) एक सार्वजनिक सभा में कहा—“यद्यपि मैं उन लोगों में से हूँ जो चाहते हैं और जिनका विचार है कि हिन्दी ही भारत की राष्ट्रभाषा हो सकती है, किन्तु मैं हिन्दी समझ सकता हूँ और टूटी-फूटी बोल भी सकता हूँ...पर व्याख्यान नहीं कर सकता।” (सरस्वती, फरवरी, 1920 ई.) इससे पहले, दिसम्बर 1916 ई. में लखनऊ में गाँधी के निर्देश पर हिन्दी और देवनागरी को राष्ट्रीय दर्जा देने के सम्बन्ध में जो प्रस्ताव पास हुआ, उसके समर्थकों में श्री रामस्वामी अय्यर तथा श्री रंगस्वामी आयंगर जैसे दक्षिण भारतीय प्रतिनिधि अग्रणी थे।

सन् 1918 ई. में, प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान भारत की अँग्रेजी सरकार द्वारा गठित युद्ध-परिषद (War Council) में जब गाँधीजी को भी आमन्त्रित किया गया तो उन्होंने पहली शर्त यह रखी कि 'मुझे हिन्दी में बोलने की इजाजत दी जाए।' और तत्कालीन अँग्रेज़ वाइसराय को उनकी शर्त स्वीकार करनी पड़ी। सन् 1939 ई. में जब भारत के कई प्रदेशों में कांग्रेस की निर्वाचित सरकारों का गठन हुआ तो मद्रास के तत्कालीन मुख्यमंत्री (जो स्वाधीनता के बाद सन् 1947 ई. में भारत के प्रथम गवर्नर जनरल बने) श्री राजगोपालाचारी ने मद्रास प्रान्त (वर्तमान तमिलनाडु) के सभी विद्यालयों में हिन्दी-शिक्षण अनिवार्य कर दिया। उस समय महात्मा गाँधी ने अन्य राज्यों को भी इस नीति का अनुसरण करने की प्रेरणा देते हुए लिखा—“अगर हमें अखिल भारतीय राष्ट्रीयता प्राप्त करनी है तो प्रान्तीय आवरण को भेदना की पड़ेगा।...जो लोग यह मानते हैं कि भारत एक देश है उन्हें राजा (राजगोपालाचारी) जी का समर्थन करना ही चाहिए।” (हरिजन-सेवक, 10 सितम्बर, 1939 ई.)

इस प्रकार अन्य भी अनेक ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान हिन्दी का राष्ट्रभाषा के रूप में बड़ी तेजी से विकास हुआ। स्वाधीनता आन्दोलन का प्रत्यक्ष या परोक्ष समर्थन करने वाले असंख्य नेताओं, क्रान्तिकारियों, बलिदानी वीरों, लेखकों, कवियों और पत्रकारों ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने में भरपूर योगदान किया। इन सब प्रयत्नों के पीछे गाँधीजी का यही संकल्प था—

“अगर यह स्वराज्य करोड़ों भूखों मरनेवालों का, करोड़ों निरक्षरों का, निरक्षर बहनों व दलितों व अन्त्यजों का हो और इन सबके लिए हिन्दी एकमात्र राष्ट्रभाषा हो सकती है।” (यंग इंडिया, जून 1931 ई.)

महात्मा गाँधी ने 'मेरे सपनों का भारत' नामक पुस्तक में जहाँ अपने अन्य अनेक अनमोल और प्रेरक विचार प्रस्तुत किए हैं, वहीं राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में भी बार-बार आग्रह किया है। उदाहरणतया—

(क) “लाखों लोगों को जबर्दस्ती अँग्रेजी का ज्ञान कराना उन्हें गुलाम बनाना है। मैकाले ने भारत में जिस शिक्षा की नींव रखी उसने हम सबको गुलाम बना दिया है।”

(ख) “आप और हम चाहते हैं कि करोड़ों भारतीय आपस में अन्तःप्रान्तीय सम्पर्क कायम करें। स्पष्ट है कि अँग्रेजी के द्वारा कई पीढ़ियाँ गुज़र जाने पर भी हम परस्पर सम्पर्क स्थापित न कर सकेंगे।” (मेरे सपनों का भारत)

इसी दृष्टिकोण को साकार करने के लिए महात्मा गाँधी ने देश के स्वाधीन होते ही समकालीन जन-प्रतिनिधियों को सचेत करते हुए कहा—

“हिन्दी को राष्ट्रभाषा करने में एक दिन भी खोना देश को भारी सांस्कृतिक नुकसान पहुँचाना है।.. जिस तरह हमारी आजादी जबर्दस्ती छीननेवालों अँग्रेजों की सियासी हुकूमत को हमने सफलतापूर्वक इस देश से निकाल दिया; उसी तरह हमारी संस्कृति को दबाने वाली अँग्रेजी भाषा को भी यहाँ से निकाल बाहर करना चाहिए।”

स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू का यह कथन भी महात्मा गाँधी के उस मत की पुष्टि करता है—“अँग्रेजी निश्चय ही एक थोपी हुई भाषा है। इसने हमारे लिए ज्ञान-विज्ञान की खिड़कियाँ जरूर खोलीं और हमें बहुत कुछ ज्ञान दिया भी, पर इस पर एक ऐसी भाषा होने का लांछन भी है जो हमारी अपनी भाषाओं और हमारी सांस्कृतिक परम्पराओं के ऊपर जमकर बैठ गई है।”

स्पष्ट है कि सन् 1947 ई. तक हिन्दी राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित होने के साथ-साथ राजभाषा का दर्जा प्राप्त करने में भी सक्षम हो चुकी थी। तब तक 'राष्ट्रभाषा' और 'राजभाषा' का अभिप्राय एक ही था। बाद में जब भारत की संविधान सभा में इस पर विधिवत् विचार-विमर्श हुआ तो मान लिया गया कि राष्ट्रभाषा के रूप में तो हिन्दी पहले से ही प्रतिष्ठित है, अब इसे वैधानिक रूप से राजभाषा का भी दर्जा दिया जाना चाहिए।

ईसाई धर्म प्रचारक तथा अन्य व्यक्तियों और संस्थाओं का हिन्दी प्रसार में योगदान

ब्रिटिश सत्ता की स्थापना और आर्थिक बदलाव के सन्दर्भ में नई शिक्षा प्रणाली द्वारा ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में बहुत नए आयाम खुले। भारतीय परम्परागत ज्ञान के स्थान पर पश्चिम का सर्वजन सुलभ और विविध ज्ञान-विज्ञान इस

देश की जनता को प्राप्त होने लगा। हिन्दू और मुसलमानों की कट्टर धर्म प्रचार की नीति के स्थान पर ईसाई धर्म प्रचारकों ने नई तरह से ईसाई धर्म का प्रचार आरम्भ कर दिया। सन् 1758 ई. में **डैनिस मिशन कलकत्ता** आया और सन् 1793 ई. में **कैरे और अन्य दो सहयोगियों** के साथ मिशनरियों का दूसरा दल कलकत्ता पहुँचा। सन् 1813 ई. में कम्पनी ने एक नए चार्टर को स्वीकृति प्रदान की। इसके अनुसार शिक्षा आदि उपयोगी कार्यों के लिए अनुदान देने की व्यवस्था की गई।

इस चार्टर के बाद आने वाले मिशनरियों में अलेक्जेंडर डफ का कार्य सबसे महत्वपूर्ण है। इन सबका उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार था इसलिए उन्होंने हिन्दू और मुसलमान दोनों के धर्मों की निन्दा करने में भी संकोच नहीं किया।

फिर भी सच्चाई यह है कि ईसाई धर्म प्रचारकों के काम के बहाने ही भारतीय भाषाओं को गद्य-शैली प्राप्त हुई। हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं में गद्य बिल्कुल आरम्भिक स्थिति में ही था। इसलिए कैरे, ब्राउन, नेवलिन, स्कनर बैले आदि ने भारतीय भाषाओं में बाइबिल का अनुवाद किया। स्कूलों के लिए उन्हें पाठ्य पुस्तकें भी लिखनी पड़ी। भारतीय धर्म, पुराण और स्त्री-शिक्षा के प्रसार में भी उनका महत्वपूर्ण योगदान है।

इस प्रकार इन मिशनरियों के द्वारा हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं को एक नया रूप, रंग और गद्य-शैली के विकास का अवसर मिला जो आगे चलकर सँवरे हुए गद्य और हिन्दी भाषा-संस्कार की पृष्ठभूमि बना।

फोर्ट विलियम कॉलेज

ईस्ट इंडिया कम्पनी ने प्रशासनिक सुविधा के लिए सन् 1800 ई. में फोर्ट विलियम कॉलेज स्थापित किया। इसमें हिन्दी या हिन्दुस्तानी के प्राध्यापक गिलक्रिस्ट थे। उर्दू के लिए अलग शिक्षक थे और भाषा या हिन्दवी के लिए लल्लू जी लाल और सदल मिश्र की नियुक्ति हुई।

लल्लू जी लाल ने सबसे पहले खड़ी बोली शब्द का प्रयोग किया। उनके 'प्रेम सागर' नामक ग्रन्थ में और सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' में इस शब्द का उल्लेख मिलता है। इस कॉलेज ने हिन्दी के प्रचार-प्रसार में बहुत योगदान किया। यह बात अलग है कि इसकी हिन्दी पर ब्रज, अवधी और भोजपुरी का प्रभाव अधिक रहा।

गिलक्रिस्ट साहब से हिन्दी सीखकर मैटकॉफ महोदय ने जब दिल्ली के 'असिस्टेंट रेजिडेंट' का पद सम्भाला तो 29 अगस्त, 1806 ई. को अपने हिन्दी-शिक्षक के नाम लिखे उनके पत्र से पता चलता है कि हिन्दी के प्रचार-प्रसार का प्रयास अपना असर दिखाने लगा था—“भारत के जिस भाग में भी मुझे काम करना पड़ा है, कलकत्ता से लेकर लाहौर तक, कुमाऊँ के पहाड़ों से नर्मदा तक अफगानों, मराठों, राजपूतों, जाटों, सिखों और उन प्रदेशों के सभी कबीलों में मैंने उस भाषा का आम व्यवहार देखा है जिसकी शिक्षा आपने मुझे दी है।

इस कॉलेज के अध्यापकों ने देशभाषा (हिन्दी) में पाठ्य पुस्तकें, कोश और व्याकरण तैयार करने का काम किया। इस कॉलेज के द्वारा भारतीय भाषाओं में गद्य-लेखन को प्रोत्साहन मिला। कलकत्ता मद्रसा और बनारस संस्कृत कॉलेज की स्थापना से अँग्रेज विद्वान यहाँ की भाषाओं में रुचि लेने लगे।

भारत में ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, रामकृष्ण मिशन, आर्य समाज और थियोसॉफिक सोसाइटी की मान्यताओं ने भी हिन्दी के प्रचार-प्रसार को बढ़ावा दिलाया।

राजा राममोहन राय ने सन् 1818 में आधुनिक भारत की नींव रखते हुए 'ब्रह्म समाज' की स्थापना की। उन्हें अरबी और फारसी का बहुत ज्ञान था। गीता, उपनिषद् और ईसाई धर्म आदि सभी की विशेषताओं को अपने भीतर सँजोकर उन्होंने नई और बौद्धिक तर्क प्रधान विचारधारा प्रस्तुत की। इसमें अन्धविश्वास, कर्मकांड, मूर्तिपूजा तथा अन्य सामाजिक कुरीतियों का विरोध करके भारतीय जनमानस को शिक्षित किया।

इसी प्रकार केशवचन्द्र सेन ने सन् 1867 में 'प्रार्थना समाज' की स्थापना की। रामकृष्ण परमहंस की मृत्यु के बाद उनके शिष्य विवेकानन्द ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना करके एकता, बंधुत्व, स्वतन्त्रता और राष्ट्रीय गौरव का प्रसार किया। इसके बाद गुजरात के प्रसिद्ध दार्शनिक और समाज सुधारक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज की

स्थापना की और प्रत्येक आर्य समाजी के लिए हिन्दी पढ़ना अनिवार्य बताया। इससे धार्मिक और सामाजिक स्तर पर हिन्दी को पूरे राष्ट्र की जनभाषा बनने में सहायता मिली।

सन् 1904 ई. में कलकत्ता के प्रमुख हिन्दी-पत्र 'भारतमित्र' में प्रसिद्ध बंगला कथाकार बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय का एक लेख छपा था—'भारत की एकता'। इसमें उन्होंने लिखा था—“अँग्रेजी भाषा में चाहे जो हो लेकिन हिन्दी सीखे बिना नहीं चल सकता। हिन्दी भाषा में किताब और भाषण से भारत के अधिकांश का मंगल होगा...हिन्दी भाषा के सहारे जो लोग विभिन्न प्रदेशों में एकता कायम कर सकेंगे, वही वास्तव में 'भारत-बन्धु' के नाम से पुकारे जाएँगे।”

सन् 1875 में 'थियॉसौफिकल सोसाइटी' की स्थापना न्यूयार्क में हुई थी। इस संस्था की इंग्लैंड शाखा से सम्बन्ध रखने वाली श्रीमती एनी बेसेंट सन् 1893 में भारत आई और सोसाइटी के द्वारा भारतीय धार्मिक परम्परा के प्रचार-प्रचार के काम में जुट गई। उन्होंने सारे देश का दौरा किया और हिन्दू धर्म की आध्यात्मिकता के पक्ष में प्रभावशाली भाषण दिए। बनारस में सेन्ट्रल हिन्दू कॉलेज जैसी अनेक शिक्षा संस्थाएँ भी खोली। इसके द्वारा भी हिन्दी, संस्कृत और अन्य भारतीय भाषाओं के प्रचार-प्रसार का अवसर मिला।

(iv) राजभाषा के रूप में हिन्दी : संवैधानिक रूपरेखा

डॉ. रामप्रकाश

प्रस्तावना—भारतीय संविधान के भाग 5, 6 और 17 में राजभाषा-सम्बन्धी उपबन्ध हैं। भाग 17 का शीर्षक 'राजभाषा' है। इस भाग में चार अध्याय हैं जो क्रमशः **संघ की भाषा, प्रादेशिक भाषाएँ, उच्चतम न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों आदि की भाषा** तथा विशेष निर्देश से सम्बन्धित हैं। ये चारों अध्याय अनुच्छेद 343 से 351 के अन्तर्गत समाहित हैं। इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 120 में संसद एवं विधानमंडलों की भाषा के सम्बन्ध में विवरण दिया गया है।

संविधान में 'राजभाषा' का अभिप्राय—भारतीय संविधान में कहीं भी 'राजभाषा' शब्द की कोई परिभाषा या व्याख्या नहीं दी गई। इसका प्रारम्भिक उल्लेख **अनुच्छेद 343 (1)** में इस प्रकार है—**"संघ की राजभाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी होगी।"**

इसके उपरान्त, संविधान में जहाँ-जहाँ भी 'राजभाषा' शब्द का उल्लेख 'संघ की राजभाषा' या 'राज्यों की राजभाषाओं' के सन्दर्भ में हुआ है **वहाँ उसके अनेक प्रयोजनों में एक प्रयोजन 'प्रशासकीय प्रयोजन' बताया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि संविधान में 'राजभाषा' शब्द का प्रयोग एक सीमित अर्थ में 'प्रशासकीय प्रयोजन' के लिए हुआ है।** किन्तु **अनुच्छेद 351** में हिन्दी के प्रसार और विकास के सम्बन्ध में अनेक निर्देश दिये गये हैं। उन निर्देशों से यह बात स्पष्ट झलकती है कि संविधान-निर्माताओं के मन में एक ऐसी सार्वदेशिक (राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय) हिन्दी के विकास की संकल्पना निहित थी जो राष्ट्र के अधिसंख्यक समुदाय के पारस्परिक संपर्क-संचार और शैक्षणिक-साहित्यिक-सांस्कृतिक प्रयोजनों के अतिरिक्त अन्य (प्रशासकीय एवं वैधानिक) प्रयोजनों को भी सिद्ध करने में सक्षम हो।

इससे स्पष्ट है कि अनुच्छेद 351 में प्रयुक्त शब्द 'हिन्दी भाषा' का अभिप्राय केवल 'राजभाषा' हिन्दी तक सीमित न होकर 'राष्ट्रभाषा' और सार्वदेशिक 'सम्पर्क भाषा' तक व्याप्त है। उल्लेखनीय है कि इसी अनुच्छेद 351 में हिन्दी भाषा के विकास का लक्ष्य भारत की 'सामाजिक संस्कृति' के सभी तत्त्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सकने वाली भाषा जैसी क्षमता प्राप्त कर लेना बताया गया है।

इससे स्पष्ट है कि संविधान में 'राजभाषा' शब्द के प्रयोग के अन्तर्गत राष्ट्रभाषा हिन्दी, सम्पर्क भाषा हिन्दी का अभिप्राय विद्यमान है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि संविधान सभा में भारतीय संविधान के अन्तर्गत हिन्दी को राजभाषा घोषित करने वाले प्रस्ताव पेश करने वाले दक्षिण भारतीय नेता और विद्वान श्री गोपालस्वामी आयंगर तथा गुजरात के श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी द्वारा प्रस्तुत किए गए फार्मूले के रूप में हुआ। **'मुंशी-आयंगर फार्मूला'** के नाम से प्रसिद्ध इस प्रस्ताव के मसौदे में कहा गया—

'हमारी मूल नीति यह होनी चाहिए कि संघ के कामकाज के लिए हिन्दी देश की सामान्य भाषा हो और देवनागरी सामान्य लिपि हो। मूल नीति का यह भी एक मुद्दा है कि सभी संघीय प्रयोजनों के लिए वे अंक काम में लाए जाएँ जिन्हें भारतीय अंकों का अन्तर्राष्ट्रीय रूप कहा गया है।'¹

1. भारतीय अंक हैं—१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०

इनका अन्तर्राष्ट्रीय रूप है—1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8, 9, 10

14 सितम्बर, 1949 को जब संविधान सभा में 'राजभाषा' सम्बन्धी भाग स्वीकृत हुआ तो संविधान सभा के अध्यक्ष डॉ. राजेन्द्रप्रसाद (जो 26 जनवरी, 1950 ई. को स्वतन्त्र भारत का नया संविधान लागू होने पर सन् 1952 ई. में भारत के प्रथम राष्ट्रपति निर्वाचित हुए) ने कहा—

“आज पहली बार हम अपने संविधान में एक भाषा स्वीकार कर रहे हैं जो भारत के संघ के प्रशासन की भाषा होगी और समय के अनुसार अपने-आपको ढालना और विकसित करना होगा। हमने अपने देश का राजनीतिक एकीकरण सम्पन्न किया है। राजभाषा हिन्दी देश की एकता को कश्मीर से कन्याकुमारी तक अधिक सुदृढ़ बना सकेगी। अँग्रेज़ी की जगह भारतीय भाषा को स्थापित करने से हम निश्चय ही और भी एक-दूसरे के निकट आएँगे।”

राजभाषा-सम्बन्धी अनुच्छेद, नियम, अधिनियम आदि

भारतीय संविधान में राजभाषा-सम्बन्धी प्रमुख प्रावधानों एवं उपबन्धों को चार वर्गों में बाँटकर समझा जा सकता है—

1. संसद में प्रयुक्त होने वाली भाषा।
2. विधान-मंडलों में प्रयुक्त होने वाली भाषा।
3. संघ की राजभाषा।
4. विधि-निर्माण और न्यायालयों में प्रयुक्त होने वाली भाषा।

1. संसद में प्रयुक्त होने वाली भाषा : भाग-5, अनुच्छेद-120 (1) में कहा गया है—“भाग-17 में किसी बात के होते हुए भी, किन्तु अनुच्छेद-348 के अधीन, संसद में कार्य हिन्दी में या अँग्रेज़ी में किया जाएगा।”

आगे कहा गया है—“यदि कोई व्यक्ति हिन्दी में या अँग्रेज़ी में विचार प्रकट करने में असमर्थ है तो लोकसभा का अध्यक्ष या राज्यसभा का सभापति उसे अपनी मातृभाषा में बोलने की अनुमति दे सकता है।”

अनुच्छेद-120 (2) में यह उपबन्ध है—“जब तक संसद विधि द्वारा कोई और उपबन्ध न करे, तब तक संविधान के आरम्भ से पन्द्रह वर्ष की अवधि समाप्त होने के पश्चात् ‘या अँग्रेज़ी में’ वाला अंश नहीं रहेगा।” (अर्थात् 26 जनवरी, 1965 ई. से संसद का कार्य केवल हिन्दी में होगा।)

2. विधान-मंडल में प्रयुक्त होने वाली भाषा : भाग-6, अनुच्छेद 210 (1) में कहा गया है—“भाग-17 में किसी बात के होते हुए भी, किन्तु अनुच्छेद-348 के उपबन्धों के अधीन रहते हुए, राज्य के विधान-मंडल में कार्य राज्य की राजभाषा या अँग्रेज़ी में किया जाएगा।”

आगे कहा गया है कि विधानसभा का अध्यक्ष या विधान-परिषद का सभापति ऐसे किसी सदस्य को अपनी मातृभाषा में बोलने की अनुमति दे सकता है जो उपर्युक्त भाषाओं में से किसी में भी विचार प्रकट नहीं कर सकता।

अनुच्छेद-210 (2) में कहा गया है—“जब तक विधान-मंडल विधि द्वारा कोई और उपबन्ध न करे, तब तक इस संविधान के आरम्भ से पन्द्रह वर्ष की अवधि समाप्त हो जाने के बाद ‘या अँग्रेज़ी में’ वाला अंश नहीं रहेगा।” (अर्थात् 26 जनवरी, 1965 ई. से विधान-मंडल का कार्य राज्य की राजभाषा/भाषाओं या हिन्दी में ही होगा।)

इसी अनुच्छेद में आगे हिमाचल प्रदेश, मणिपुर, मेघालय और त्रिपुरा में ‘पन्द्रह वर्ष’ के स्थान पर पच्चीस वर्ष’ की छूट अँग्रेज़ी-प्रयोग के लिए दी गई है।

3. संघ की राजभाषा : भाग-17, अनुच्छेद 343 (1) में कहा गया है—“संघ की राजभाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी होगी।”

अनुच्छेद-343 (2)—“खंड (1) में किसी बात के होते हुए भी, इस संविधान के आरम्भ से पन्द्रह वर्ष की अवधि तक संघ के उन प्रशासकीय प्रयोजनों के लिए अँग्रेज़ी भाषा का प्रयोग किया जाता रहेगा, जिनके लिए उसका प्रयोग किया जा रहा था।”

इस सम्बन्ध में आगे कहा गया है कि राष्ट्रपति उक्त अवधि (26 जनवरी, 1950 से 25 जनवरी, 1965 तक के) के दौरान अपने आदेश से संघ के शासकीय प्रयोजनों के लिए किसी के लिए अँग्रेजी भाषा के अतिरिक्त हिन्दी भाषा का और भारतीय अंकों के अन्तर्राष्ट्रीय रूप के अतिरिक्त देवनागरी रूप का प्रयोग प्राधिकृत कर सकेंगे।

अनुच्छेद-343 (3) में कहा गया है—“इस अनुच्छेद में किसी बात के होते हुए भी, संसद उक्त पन्द्रह वर्ष की अवधि के पश्चात् विधि द्वारा—(क) अँग्रेजी भाषा का, यह (ख) अंकों के देवनागरी रूप का ऐसा प्रयोजनों के लिए प्रयोग का उपबन्ध कर सकेगी जो ऐसी विधि में बताए जाएँ।

राजभाषा के लिए आयोग और संसद की समिति : अनुच्छेद-344 (1) में कहा गया है—“राष्ट्रपति, इस संविधान के प्रारम्भ से पाँच वर्ष की समाप्ति पर (अर्थात् 26 जनवरी, 1955 ई. को) और तत्पश्चात् प्रारम्भ से दस वर्ष की समाप्ति पर, आदेश द्वारा, एक आयोग का गठन करेंगे। इस आयोग में एक अध्यक्ष तथा आठवीं अनुसूची में बताई गई विभिन्न भाषाओं (इसका विवरण आगे अलग से दिया गया है) का प्रतिनिधित्व करने वाले ऐसे अन्य प्रतिनिधि होंगे जिन्हें राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाएगा। राष्ट्रपति के इस आदेश में आयोग द्वारा अपनाई जाने वाली प्रक्रिया भी निर्दिष्ट की जाएगी।

अनुच्छेद-344 (2) में उपर्युक्त आयोग के पाँच कर्तव्य बताए गए हैं—(क) संघ के शासकीय प्रयोजनों के लिए हिन्दी भाषा के अधिकाधिक प्रयोग की सिफारिश, (ख) संघ के सभी या किसी शासकीय प्रयोजनों के लिए अँग्रेजी भाषा के प्रयोग पर निर्बंधनों की सिफारिश, (ग) अनुच्छेद-348 में उल्लिखित सभी या किन्हीं प्रयोजनों के लिए प्रयोग की जाने वाली भाषा की सिफारिश, (घ) संघ के किसी एक या अधिक विनिर्दिष्ट प्रयोजनों के लिए प्रयोग किए जाने वाले अंकों के रूप की सिफारिश, (ङ) संघ की राजभाषा तथा संघ और किसी राज्य के बीच या एक राज्य और दूसरे राज्य के बीच पत्रादि की भाषा और उनके प्रयोग के सम्बन्ध में राष्ट्रपति द्वारा आयोग को सौंपे गए किसी अन्य विषय में सिफारिश।

राज्य की राजभाषा या राजभाषाएँ : संविधान के अनुच्छेद-345 में कहा गया है—“किसी राज्य का विधान-मंडल अनुच्छेद-346 और अनुच्छेद 347 के उपबन्धों के अधीन रहते हुए, विधि द्वारा उस राज्य में प्रयोग होने वाली भाषाओं में से किसी एक या अधिक भाषाओं को या हिन्दी को, उस राज्य के सभी या किन्हीं प्रशासकीय प्रयोजनों के लिए प्रयोग की जाने वाली भाषा या भाषाओं के रूप में अंगीकार कर सकेगा।”

इसी अनुच्छेद-345 में आगे कहा गया है—“परन्तु जब तक राज्य का विधान-मंडल, विधि द्वारा कोई अन्य उपबन्ध न करे तब तक राज्य के भीतर उन शासकीय प्रयोजनों के लिए अँग्रेजी भाषा का प्रयोग किया जाता रहेगा जिनके लिए वह इस संविधान से ठीक पहले प्रयोग किया जा रहा था।”

एक राज्य और दूसरे के बीच, अथवा राज्य और संघ के बीच संचार के लिए राजभाषा : संविधान के अनुच्छेद-346 में कहा गया है—“संघ के शासकीय प्रयोजनों के लिए प्रयोग किए जाने हेतु जो भाषा उस समय प्राधिकृत होगी, वही एक राज्य और दूसरे राज्य के बीच और किसी राज्य तथा संघ के बीच पत्रादि की राजभाषा होगी।”

आगे कहा गया है—“परन्तु, दो या अधिक राज्य यह करार करते हैं कि उन राज्यों के बीच पत्रादि की राजभाषा हिन्दी भाषा होगी तो ऐसे पत्रादि के लिए उस भाषा का प्रयोग किया जा सकेगा।”

किसी राज्य के जनसमुदाय के किसी भाग द्वारा बोली जाने वाली भाषा के सम्बन्ध में विशेष उपबन्ध : संविधान के अनुच्छेद-347 में कहा गया है—“यदि किसी राज्य के जनसमुदाय का कोई भाग अपने द्वारा बोली जाने वाली भाषा के सम्बन्ध में विशेष उपबन्ध की माँग करता है और राष्ट्रपति को तसल्ली हो जाती है कि वह माँग संगत है तो राष्ट्रपति यह निर्देश कर सकते हैं कि ऐसी भाषा को भी राज्य के सर्वत्र या उसके किसी भाग में एक आयोजन के लिए, जिसे वे विनिर्दिष्ट करें, शासकीय मान्यता दी जाए।”

4. उच्चतम न्यायालय, उच्च न्यायालयों आदि की भाषा : संविधान के भाग-17 उच्चतम न्यायालय, उच्च न्यायालयों तथा अधिनियमों, विधेयकों आदि में प्रयोग की जाने वाली भाषा के सम्बन्ध में अनुच्छेद-348 उल्लेखनीय है—

अनुच्छेद-348 (1) में कहा गया है—जब तक संसद विधि द्वारा कोई और उपबन्ध न करे, तब तक नीचे बताई गई कार्यवाहियों के प्राधिकृत पाठ अँग्रेजी में होंगे—

(क) उच्चतम न्यायालयों और प्रत्येक उच्च न्यायालय में सभी कार्यवाहियाँ।

- (ख) 1. संसद के प्रत्येक सदन या किसी राज्य के विधान-मंडल के सदन या प्रत्येक सदन में प्रयुक्त किए जाने वाले सभी विधेयक या उनके प्रस्तावित संशोधन।
2. संसद या किसी राज्य के विधान-मंडल द्वारा पारित सभी अधिनियम और राष्ट्रपति या किसी राज्य के राज्यपाल द्वारा जारी किए गए अध्यादेश।
3. इस संविधान के अधीन अथवा संसद या किसी राज्य विधानमंडल द्वारा बनाई गई किसी विधि के अधीन जारी किए गए सभी आदेश, नियम, विनियम और उपविधियाँ।

अनुच्छेद-348 (2) में, किसी राज्य के राज्यपाल को राष्ट्रपति की पूर्व सहमति से, सम्बद्ध राज्य के उच्च न्यायालय की कार्यवाहियों में हिन्दी भाषा या उस राज्य के शासकीय प्रयोजनों के लिए प्रयोग की जाने वाली किसी अन्य भाषा के प्रयोग को प्राधिकृत करने का अधिकार दिया गया है। परन्तु यह बात सम्बद्ध उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय, डिग्री या आदेश पर लागू नहीं होगी। (उदाहरणतः हरियाणा या उत्तर प्रदेश के राज्यपाल उच्च न्यायालय में हिन्दी भाषा के प्रयोग को तो प्राधिकृत कर सकते हैं किन्तु न्यायाधीश अपना फैसला हिन्दी में सुनाने पर बाध्य नहीं होंगे।)

अनुच्छेद-348 (3) में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि किसी राज्य के विधान-मंडल में प्रस्तुत विधेयकों तथा उनसे सम्बन्धित संशोधनों में यदि राज्यपाल की अनुमति से अँग्रेजी भाषा के अलावा किसी अन्य भाषा के प्रयोग की अनुमति है तो उसका अँग्रेजी प्राधिकृत पाठ वही माना जाएगा जो राज्यपाल के प्राधिकार से प्रकाशित अँग्रेजी भाषा में अनुवाद किया गया हो।

अनुच्छेद-349 में कहा गया है—“इस संविधान के प्रारम्भ से पन्द्रह वर्ष की अवधि के दौरान, अनुच्छेद-348 (1) में उल्लिखित किसी प्रयोजन के लिए प्रयोग की जाने वाली भाषा-सम्बन्धी कोई विधेयक या संशोधन राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति के बिना संसद के किसी सदन में प्रस्तुत नहीं किया जा सकेगा।”

यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि “राष्ट्रपति इस सम्बन्ध में अपनी पूर्व अनुमति तभी देंगे जब वे संविधान के अनुच्छेद-344 (1) के अधीन गठित आयोग तथा अनुच्छेद-344 (4) के अधीन गठित संसदीय समिति की रिपोर्ट पर विचार कर लेंगे।

अनुच्छेद-350 में शिकायतों को दूर करने के लिए दी जाने वाली अर्जी में प्रयोग की जाने वाली भाषा के सम्बन्ध में कहा गया है कि ऐसी अर्जी संघ में या राज्य में प्रयोग होने वाली किसी भी भाषा में (जैसी स्थिति हो) दी जा सकेगी।

हिन्दी भाषा के विकास के लिए विशेष निर्देश : संविधान के अनुच्छेद-351 में कहा गया है—“संघ का यह कर्तव्य होगा कि वह हिन्दी भाषा का प्रसार बढ़ाए, उसका विकास करे ताकि वह भारत की सामाजिक संस्कृति के सभी तत्त्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके और उसकी प्रकृति में हस्तक्षेप किए बिना हिन्दुस्तानी के और ‘**आठवीं अनुसूची**’ में बताई गई भारत की अन्य भाषाओं के प्रयुक्त रूप, शैली और पदों को आत्मसात् करते हुए और जहाँ आवश्यक या वांछनीय हो वहाँ उसके शब्द-भंडार के लिए मुख्यतः संस्कृत से और गौणतः अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि सुनिश्चित करे।”

आठवीं अनुसूची में उल्लिखित भारतीय भाषाएँ

संविधान के अनुच्छेद-344 (1) और अनुच्छेद-355 में आठवीं अनुसूची में विनिर्दिष्ट भारतीय भाषाओं का सन्दर्भ आया है। इस (आठवीं) अनुसूची में, पहले केवल चौदह भाषाएँ शामिल की गई थीं। बाद में संशोधन द्वारा इनमें ‘सिन्धी’ को जोड़ने से यह संख्या पन्द्रह हो गई। अगस्त 1992 में एक अन्य संशोधन द्वारा ‘**आठवीं अनुसूची**’ में तीन

अन्य भाषाएँ जोड़ दी गईं—कोंकणी, नेपाली और मणिपुरी। इस प्रकार सन् 1993 तक संविधान की आठवीं अनुसूची में निम्नलिखित अठारह भारतीय भाषाएँ सम्मिलित थीं—

(1) असमिया, (2) उड़िया, (3) उर्दू, (4) कश्मीरी, (5) कन्नड़, (6) कोंकणी, (7) गुजराती (8) तमिल, (9) तेलुगु, (10) नेपाली, (11) पंजाबी, (12) बंगला, (13) मणिपुरी, (14) मराठी, (15) मलयालम, (16) संस्कृत, (17) सिन्धी, (18) हिन्दी।

किंतु आठवीं अनुसूची में सम्मिलित भाषा की अब यह संख्या बढ़कर बाईस हो गयी है। सन् 2003 में इसमें जिन चार भाषाओं को और जोड़ दिया गया, वे हैं—मैथिली, संथाली, बोडो और डोगरी।

महत्त्वपूर्ण संशोधन

राजभाषा-सम्बन्धी उपर्युक्त अनुच्छेदों में दो महत्त्वपूर्ण संशोधन हुए। सन् 1956 में एक तो अनुच्छेद-350 (क) जोड़ा गया जिसके द्वारा प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा में शिक्षा की सुविधाएँ उपलब्ध कराने के उपबन्ध हैं। दूसरे, 350 (ख) जोड़कर भाषाई अल्पसंख्यकों के लिए राष्ट्रपति द्वारा विशेष अधिकारी नियुक्त करने का प्रावधान किया गया। इस विशेष अधिकारी के कर्तव्य का निर्देश करते हुए अनुच्छेद-350 (ख)-2 में कहा गया है—यह अधिकारी संविधान के अधीन भाषाई अल्पसंख्यक-वर्गों के लिए उपबन्धित रक्षोपायों से सम्बन्धित सभी विषयों की छानबीन करके, राष्ट्रपति को रिपोर्ट करेगा। राष्ट्रपति ऐसी सभी रिपोर्टों को संसद के प्रत्येक सदन के सामने रखवाएँगे तथा सम्बन्धित राज्यों की सरकारों को भिजवाएँगे।

राष्ट्रपति द्वारा राजभाषा सम्बन्धी जारी प्रमुख आदेश

(1) 27 मई, 1952 ई. को राष्ट्रपति द्वारा अनुच्छेद-343 (2) के अन्तर्गत दी गई शक्तियों का उपयोग करते हुए पहला आदेश जारी किया गया जिसमें राज्यपालों, उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों तथा उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों के नियुक्ति पत्रों में अंग्रेजी भाषा के अतिरिक्त हिन्दी के तथा अन्तर्राष्ट्रीय अंकों के अतिरिक्त देवनागरी के अंकों के प्रयोग को प्राधिकृत किया गया।

(2) सन् 1955 ई. में राष्ट्रपति द्वारा एक अन्य आदेश जारी किया गया जिसमें संघ के निम्नलिखित सरकारी प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी भाषा के अतिरिक्त हिन्दी के प्रयोग को प्राधिकृत किया गया—

(i) जनता के साथ पत्र-व्यवहार, (ii) प्रशासनिक रिपोर्ट, सरकारी पत्रिकाएँ एवं संसद में पेश की जाने वाली रिपोर्ट, (iii) सरकारी संकल्प और विधायी अधिनियम, (iv) हिन्दी को राजभाषा के रूप में मान्यता देने वाली राज्य सरकारों से पत्र-व्यवहार, (v) संधियाँ और उनके करार, (vi) अन्य देशों की सरकारों, उनके दूतों तथा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के साथ पत्र-व्यवहार, (vii) राजनयिक एवं कौंसलीय पदाधिकारियों एवं अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में भारतीय प्रतिनिधियों के नाम जारी किए जाने वाले औपचारिक दस्तावेज।

7 जून, 1955 ई. को गठित राजभाषा आयोग और सन् 1956 में गठित राजभाषा संबंधी संसदीय समिति की रिपोर्ट का सार यह था कि **सन् 1965 ई. तक राजकीय कार्यों में हिन्दी भाषा को राजभाषा के रूप में लागू करना व्यावहारिक नहीं है, इसलिए संसद यथावश्यक विधि द्वारा, निहित प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी भाषा को सहाराजभाषा के रूप में प्रयोग करने पर विचार करें।** अंग्रेजी भाषा के स्थान पर हिन्दी भाषा का प्रयोग करने की प्रक्रिया इस प्रकार विकसित तथा संचित की जाए कि किसी प्रकार की असुविधा और राजकाज के कामों में व्यवधान हुए बिना वह लागू हो सके।

सन् 1960 का राजभाषा सम्बन्धी आदेश

राष्ट्रपति द्वारा, **अनुच्छेद-344 (6)** के अनुसरण में, 27 अप्रैल, 1960 ई. को एक विस्तृत आदेश जारी किया गया जिसमें प्रमुख रूप से निम्नलिखित प्रावधान थे—

1. शिक्षा मंत्रालय की ओर से वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली के निर्माण के लिए एक स्थायी आयोग स्थापित किया जाए।

2. शिक्षा मंत्रालय संविधानिक नियमों, विनियमों और आदेशों के अतिरिक्त सभी मैनुअलों (संहिताओं) तथा कार्यविधि सम्बन्धी साहित्य का अनुवाद कराए। भाषा में एकरूपता सुनिश्चित करने की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए यह (अनुवाद का) कार्य केवल एक ही प्राधिकरण को सौंपा जाए।

3. तृतीय श्रेणी के नीचे के कर्मचारियों, औद्योगिक संस्थानों के कर्मचारियों तथा कार्य-प्रभारित कर्मचारियों को छोड़कर, उन सभी केन्द्रीय कर्मचारियों के लिए हिन्दी भाषा का सेवाकालीन प्रशिक्षण अनिवार्य कर दिया जाए जिनकी आयु पहली जनवरी, 1961 ई. को पैंतालीस वर्ष से कम हो।

इसी प्रकार टंककों (टाइपिस्ट) और आशुलिपिकों (स्टैनोग्राफर) को हिन्दी में टंकण और आशुलेखन के प्रशिक्षण की व्यवस्था भी गृह मंत्रालय की ओर से की जाए। (इस समय गृह मंत्रालय के अन्तर्गत **‘राजभाषा प्रशिक्षण संस्थान’** की ओर से यह दायित्व निभाया जा रहा है।)

उपर्युक्त प्रमुख प्रावधानों के अतिरिक्त ‘गृह मंत्रालय’ की ओर से सन् 1961 ई. में एक सुनियोजित कार्यक्रम तैयार किया जिसके अन्तर्गत, राजभाषा के रूप में हिन्दी के प्रयोग, उसके प्रशिक्षण और संवैधानिक, कार्यालयी/प्रशासकीय साहित्य के हिन्दी अनुवाद की एक निश्चित अवधि तय की गई। इस समूचे कार्यक्रम की देख-रेख के लिए **‘कार्यान्वयन समिति’** बनी। अब सभी मंत्रालयों और विभागों में कार्यान्वयन समितियाँ हैं। इसके अतिरिक्त सभी मंत्रालयों में हिन्दी सलाहकार समितियाँ भी हैं। एक **‘केन्द्रीय हिन्दी समिति’** भी है जिसके अध्यक्ष प्रधानमंत्री हैं।

राजभाषा अधिनियम 1963 (यथासंशोधित 1967)

10 मई, 1963 को संसद द्वारा राजभाषा अधिनियम पारित किया गया। इसमें कुल नौ धाराएँ हैं जिनका संक्षिप्त विवरण आगे दिया जा रहा है—

धारा-1 के पहले खंड में अधिनियम के नाम और आरम्भ का निर्देश है। इसके दूसरे खंड में, इसके लागू होने की तिथि 26 जनवरी, 1965 निर्दिष्ट की गई है।

धारा-2 में स्पष्ट किया गया है कि आगामी धाराओं में नियत दिन का अभिप्राय 26 जनवरी, 1965 है तथा **‘हिन्दी का अभिप्राय वह हिन्दी है जिसकी लिपि देवनागरी है।’**

धारा-3 की उपधारा (1) में कहा गया है—“संविधान के आरम्भ से पन्द्रह वर्ष की अवधि समाप्त हो जाने पर भी अँग्रेजी भाषा नियत दिन (26-1-1965) से ही (क) संघ के उन सब राजकीय प्रयोजनों के लिए प्रयोग में लाई जाती रहेगी जिनके लिए वह उस दिन से ठीक पहले प्रयोग में लाई जाती थी। (ख) संसदीय कार्य-व्यवहार में भी (अँग्रेजी भाषा) प्रयोग में लाई जाती रहेगी।”

साथ ही जिन राज्यों ने हिन्दी को अपनी राजभाषा घोषित नहीं किया उन्हें पत्रादि में अँग्रेजी के प्रयोग का अधिकार होगा। इस प्रकार हिन्दी-भाषा को राजभाषा मानने वाले राज्यों और हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भाषा को राजभाषा मानने वाले राज्यों के बीच पत्रादि में हिन्दी के साथ अँग्रेजी अनुवाद होना अनिवार्य होगा। किन्तु जिन राज्यों ने हिन्दी भाषा को राजभाषा के रूप में स्वीकार नहीं किया वे केवल अँग्रेजी भाषा का प्रयोग पत्रादि में कर सकेंगे। उनके लिए हिन्दी के प्रयोग की बाध्यता नहीं होगी।

धारा-3 की उपधारा (2) में यह प्रावधान है कि (क) केन्द्रीय सरकार के विभिन्न मंत्रालयों, कार्यालयों, विभागों, कम्पनी-कार्यालयों, निगमों, संस्थानों आदि के बीच तब तक हिन्दी या अँग्रेजी प्रयोग में लाई जाती रहेगी जब तक सम्बद्ध मंत्रालय, कार्यालय, विभाग आदि से सम्बद्ध कर्मचारी हिन्दी का कार्यसाधक ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेते। स्थिति के अनुसार, अँग्रेजी के साथ हिन्दी या हिन्दी के साथ अँग्रेजी का अनुवाद आवश्यक होगा।

धारा-3 की उपधारा (3) के अन्तर्गत यह प्रावधान है कि केन्द्रीय सरकार के मंत्रालयों, कार्यालयों, विभागों, सम्बद्ध संस्थानों, निगमों आदि से सम्बद्ध सभी संकल्पों, आदेशों, नियमों, अधिसूचनाओं, प्रशासनिक या अन्य प्रतिवेदनों तथा प्रेस विज्ञप्तियों, सविदाओं, करारों, अनुज्ञप्तियों आदि के लिए हिन्दी और अँग्रेजी प्रयोग में लाई जाएगी।

उपधारा (4) में कहा गया है कि अँग्रेजी या हिन्दी दोनों में प्रवीण न हो पाने वाले कर्मचारियों के हितों पर आँच लाने वाले नियम सरकार नहीं बना सकेगी। (अर्थात् केवल हिन्दी या केवल अँग्रेजी के दक्ष कर्मचारियों को इच्छानुसार/सुविधानुसार भाषा में कामकाज करने की छूट होगी)।

उपधारा (5) में कहा गया है कि जब तक कोई राज्य अँग्रेजी में प्रयोग समाप्त कर देने का संकल्प पारित नहीं कर लेते तब तक उन्हें अँग्रेजी भाषा के प्रयोग की छूट रहेगी।

धारा-4 में एक ऐसी राजभाषा समिति बनाने का प्रावधान है जो धारा-3 के लागू होने की तिथि (26-1-1965) के दस वर्ष पश्चात्, राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति से गठित की जाएगी। इसका गठन संसद के दोनों सदनों द्वारा किया जाएगा। इसमें तीस सदस्य होंगे—बीस लोकसभा के और दस राज्यसभा के। इन सदस्यों का चयन आनुपातिक प्रतिनिधित्व के अनुसार एक संक्रमणीय मत द्वारा होगा।

ऐसी रिपोर्ट पर, राज्य सरकारों से कोई अभिमत प्राप्त न होने पर, राष्ट्रपति उस रिपोर्ट की सिफारिश के अनुसार आदेश जारी कर सकेंगे, परन्तु वे आदेश—धारा-3 के उपबन्धों से असंगत नहीं होंगे।

धारा-5 में केन्द्रीय अधिनियम आदि के प्राधिकृत हिन्दी अनुवाद के सम्बन्ध में बताया गया है कि राष्ट्रपति द्वारा प्राधिकृत हिन्दी अनुवाद मान्य होगा।

धारा-6 में राज्य के विधान-मंडलों के नियमों, अधिनियमों आदि के हिन्दी-अनुवाद का वही रूप प्राधिकृत मानने की बात कही गई है जिसे राज्यपाल द्वारा प्राधिकृत किया जाएगा।

धारा-7 में उच्च न्यायालयों के निर्णयों आदि में हिन्दी या अन्य राजभाषा के वैकल्पिक प्रयोग का प्रावधान है। इसमें कहा गया है कि हिन्दी या अन्य राजभाषा में दिए गए निर्णय का उच्च न्यायालय द्वारा प्राधिकृत अँग्रेजी-अनुवाद देना आवश्यक होगा।

धारा-8 में केन्द्रीय सरकार को यह अधिकार दिया गया है कि इस (राजभाषा) अधिनियम (1963) के प्रयोजनों को कार्यान्वित करने के लिए नियम बना सकेगी जिन्हें शासकीय राजपत्र (गज़ट) में अनुसूचित किया जाएगा। ऐसे नियम संसद के प्रत्येक सदन के सत्र के समय यथाशीघ्र कुल मिलाकर तीन दिन के लिए उसके सामने रखे जाएँगे। सदन द्वारा सम्बद्ध नियम में कोई उपान्तरण किए जाने पर, वह उसी रूप में लागू होगा। परन्तु ऐसा उपान्तरण, उस नियम के अधीन पहले की गई किसी बात की वैधता पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाला नहीं होगा।

धारा-9 में यह निर्देश है कि इस अधिनियम की धारा-6, 7 जम्मू-कश्मीर राज्य पर लागू नहीं होगी।

राजभाषा नियम 1976 (यथासंशोधित 1987)

सन् 1963 ई. राजभाषा अधिनियम की धारा-3 की उपधारा (4) तथा धारा-8 के अधीन प्राप्त शक्तियों का उपयोग करते हुए, भारत सरकार ने सन् 1976 ई. में 'राजभाषा नियम' लागू किया। फिर 9 अक्टूबर, 1987 को सन् 1976 ई. 'राजभाषा नियम' में कुछ संशोधन किए गए। इस 'राजभाषा नियम' की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं—

1. यह नियम संघ के शासकीय प्रयोजनों के लिए प्रयोग से सम्बन्धित है।
2. यह तमिलनाडु को छोड़कर सम्पूर्ण भारत में लागू होता है।
3. इसके अनुसार, 'क' क्षेत्र के राज्यों द्वारा आपसी या संघ (केन्द्र) के साथ पत्र-व्यवहार में हिन्दी का प्रयोग होगा।

'ख' क्षेत्र के राज्यों के आपसी या संघ से पत्र-व्यवहार में सामान्यतः हिन्दी का प्रयोग होगा। यदि किसी को अँग्रेजी में पत्रादि भेजे जाएँ तो उसके साथ हिन्दी-अनुवाद भी भेजा जाएगा।

1. 'क' क्षेत्र में हिन्दी भाषी राज्य उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश तथा संघ शासित क्षेत्र भी समाविष्ट है। 'ख' क्षेत्र में हिन्दी क्षेत्र के सीमावर्ती पंजाब, गुजरात, महाराष्ट्र, चंडीगढ़, अंडमान आदि हैं। 'ग' क्षेत्र में अन्य शेष राज्य सम्मिलित हैं।

इसके साथ यह भी प्रावधान है कि 'ख' क्षेत्र के किसी राज्य या संघ राज्य क्षेत्र में किसी व्यक्ति को पत्रादि हिन्दी या अँग्रेज़ी में भेजे जा सकते हैं।

'ग' क्षेत्र के राज्यों के आपसी अथवा संघ क्षेत्र या अन्य राज्यों के साथ पत्र-व्यवहार में अँग्रेज़ी का प्रयोग होगा।

4. केन्द्रीय सरकार के मंत्रालयों, विभागों आदि के कार्यालयों का आपसी पत्र-व्यवहार हिन्दी या अँग्रेज़ी में हो सकता है।

क्षेत्र 'क' में स्थित केन्द्रीय कार्यालयों का क्षेत्र 'ख' या क्षेत्र 'ग' में स्थित केन्द्रीय कार्यालयों से पत्र-व्यवहार हिन्दी या अँग्रेज़ी में हो सकता है। लेकिन हिन्दी में पत्र-व्यवहार का अनुपात केन्द्र सरकार हिन्दी का कार्यसाधक ज्ञान रखने वाले कर्मचारियों की संख्या और हिन्दी में पत्रादि भेजने की सुविधा के आधार पर तय करेगी।

यही (उपर्युक्त) प्रावधान क्षेत्र 'ख' और 'ग' में स्थित केन्द्रीय कार्यालयों के आपसी पत्र-व्यवहार के सम्बन्ध में भी है।

परन्तु, यदि आवश्यक हो तो, किसी एक भाषा (हिन्दी या अँग्रेज़ी) में भेजे जाने वाले पत्रों का दूसरी भाषा (अँग्रेज़ी या हिन्दी) में अनुवाद साथ भेजा जाएगा।

5. हिन्दी में प्राप्त पत्रों के उत्तर, केन्द्रीय कार्यालयों से हिन्दी में ही भेजे जाएँगे।

6. राजभाषा अधिनियम 1963 (यथा संशोधित 1967) की धारा-3 की उपधारा (3) बताए गए सभी दस्तावेजों पर हस्ताक्षर करने वाले व्यक्तियों की यह जिम्मेदारी होगी कि वे यह सुनिश्चित कर लें कि दस्तावेज हिन्दी और अँग्रेज़ी दोनों में हैं।

7. केन्द्रीय सरकार के कर्मचारी आवेदन, अपील या अभ्यावेदन आदि में हिन्दी या अँग्रेज़ी का प्रयोग कर सकते हैं।

हिन्दी में प्रयुक्त या हस्ताक्षरित आवेदन आदि का उत्तर हिन्दी में दिया जाएगा।

कोई कर्मचारी सेवा-सम्बन्धी विषयों की जानकारी अपनी इच्छानुसार हिन्दी या अँग्रेज़ी में पाने का अधिकारी होगा।

8. केन्द्रीय सरकार के कार्यालयों में टिप्पण-लेखन हिन्दी या अँग्रेज़ी में किया जाएगा। उसका अनुवाद देना आवश्यक नहीं होगा।

हिन्दी का कार्यसाधक ज्ञान रखने वाला कोई कर्मचारी किसी हिन्दी-दस्तावेज का अँग्रेज़ी अनुवाद तभी माँग सकता है, जब वह दस्तावेज विधि-सम्बन्धी या तकनीकी प्रकृति का हो। इसका निर्णय भी सम्बद्ध विभाग या कार्यालय का अध्यक्ष करेगा।

9. उनके कर्मचारियों को 'हिन्दी में प्रवीण' माना जाएगा जिन्होंने (क) मैट्रिक या उसके समकक्ष या उससे उच्चतर कोई परीक्षा हिन्दी के माध्यम से उत्तीर्ण कर ली हो, (ख) स्नातक या उसके समकक्ष या उससे उच्चतर परीक्षा में हिन्दी को एक वैकल्पिक विषय के रूप में लिया हो, (ग) जो यह घोषणा करे कि उन्होंने हिन्दी में प्रवीणता (कार्यसाधक ज्ञान की योग्यता) प्राप्त कर ली है।

10. **हिन्दी का कार्यसाधक ज्ञान :** (क) मैट्रिक या उसके समकक्ष या उससे उच्चतर परीक्षा हिन्दी विषय के साथ उत्तीर्ण करना।

(ख) केन्द्रीय सरकार की हिन्दी-प्रशिक्षण योजना के अन्तर्गत प्राज्ञ परीक्षा या सरकार द्वारा किसी विशेष प्रवर्ग के लिए निर्दिष्ट परीक्षा पास कर लेना।

(ग) केन्द्रीय सरकार द्वारा इस सम्बन्ध में निर्दिष्ट कोई अन्य परीक्षा पास कर लेना।

(घ) कर्मचारी द्वारा यह घोषणा करना कि उसने हिन्दी में कार्यसाधक ज्ञान प्राप्त कर लिया है, इसकी पुष्टि केन्द्रीय सरकार द्वारा विनिर्दिष्ट अधिकारी करेगा।

11. केन्द्र सरकार के सभी मैनुअल, संहिताएँ, प्रक्रिया सम्बन्धी अन्य साहित्य, हिन्दी और अँग्रेज़ी द्विभाषिक रूप में होगा। रजिस्ट्रों के प्रारूप व शीर्षक आदि भी हिन्दी और अँग्रेज़ी में होंगे। केन्द्रीय सरकार के कार्यालयों के सभी नामपट्ट, पत्रशीर्ष, लिफाफों आदि पर दी जाने वाली सामग्री भी द्विभाषित होगी।

किन्तु केन्द्रीय सरकार, आवश्यक समझने पर, उपर्युक्त उपबन्धों में छूट दे सकती है।

12. केन्द्रीय कार्यालय के प्रशासनिक प्रमुख की यह जिम्मेदारी होगी कि वह उपर्युक्त उपबन्धों का नियमानुसार पालन सुनिश्चित करे।

राजभाषा संकल्प 1968

संसद के दोनों सदनों ने दिसम्बर 1957 ई. में **राजभाषा संकल्प** पारित किया। यह संकल्प 18 जनवरी, 1968 ई. के राजपत्र (गजट) में राजपत्रित (अधिसूचित) किया गया, इसीलिए इसे 'राजभाषा संकल्प 1968' कहा जाता है। इसमें संविधान के अनुच्छेद-343 के अनुसार 'हिन्दी के राजभाषा होने' तथा अनुच्छेद-351 के अनुसार 'हिन्दी भाषा के विकास और प्रसार' का हवाला देते हुए यह संकल्प किया गया कि—

1. हिन्दी के प्रसार एवं विकास की गति बढ़ाने के लिए और संघ के विभिन्न राजकीय प्रयोजनों के लिए उत्तरोत्तर प्रयोग हेतु भारत सरकार द्वारा एक अधिक गहन और व्यापक कार्यक्रम तैयार किया जाएगा। उसके कार्यान्वयन की विस्तृत समीक्षा-रिपोर्ट हर वर्ष संसद के दोनों सदनों के पटल पर रखी जाएगी और राज्य सरकारों को भेजी जाएगी।

2. हिन्दी के साथ-साथ, संविधान की **आठवीं अनुसूची** में उल्लिखित भारत की अन्य सभी भाषाओं के समन्वित विकास के लिए, भारत सरकार राज्य सरकारों के सहयोग से एक कार्यक्रम तैयार करेगी और उसे शीघ्र कार्यान्वित किया जाएगा।

3. राष्ट्रीय एकता की भावना को प्रोत्साहन देने के लिए भारत सरकार द्वारा राज्य सरकारों के परामर्श से तैयार किए गए 'त्रिभाषा-सूत्र' (फार्मूला) सभी राज्यों में प्रभावी ढंग से लागू किया जाना चाहिए। इस 'त्रिभाषा-सूत्र' के अनुसार हिन्दी और भाषी क्षेत्रों में हिन्दी और अँग्रेजी के अतिरिक्त भारतीय भाषा पढ़ाई जाए जिसमें दक्षिण भारतीय भाषाओं को तरजीह दी जाए। इसी प्रकार अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों में प्रादेशिक भाषाओं और अँग्रेजी के साथ-साथ हिन्दी के अध्ययन की व्यवस्था की जाए।

4. संघ की लोक-सेवाओं अथवा पदों की भरती करने के लिए उम्मीदवारों के चयन के समय हिन्दी अथवा अँग्रेजी में से किसी एक का ज्ञान अनिवार्यतः अपेक्षित होगा। किन्तु यह बात उन विशेष सेवाओं या पदों पर लागू नहीं होगी जिससे सम्बन्धित कर्तव्यों के निष्पादन-हेतु केवल हिन्दी या केवल अँग्रेजी अथवा दोनों (जैसे स्थिति होगी) का ज्ञान आवश्यक समझा जाए।

इन (लोक-सेवा सम्बन्धी) परीक्षाओं की भावी योजना व प्रक्रिया सम्बन्धी पहलुओं एवं समय के विषय में संघ लोक सेवा आयोग के विचार जानने के बाद, अखिल भारतीय एवं उच्चतर केन्द्रीय सेवाओं से सम्बन्धित परीक्षाओं के लिए संविधान की **आठवीं अनुसूची** में सम्मिलित सभी भाषाओं तथा अँग्रेजी को वैकल्पिक रूप से रखने की अनुमति होगी।

राजभाषा संकल्प 1991

11 जनवरी, 1991 को संसद द्वारा उपर्युक्त राजभाषा संकल्प 1968 को पुनः पारित किया गया—

(उल्लेखनीय है कि 'संकल्प' नियम, अधिनियम या कानूनी आदेश नहीं। यह एक प्रकार की सिफारिश है अथवा अनुरोध व आग्रह है कि ऐसा किया जाना चाहिए। इसकी कानूनी (वैधानिक) अनिवार्यता या बाध्यता नहीं है। इसीलिए 1968 के संकल्प के ठीक इक्कीस वर्ष बाद तक भी संघ लोक सेवा आयोग की परीक्षाओं में भारतीय भाषाओं को वैकल्पिक सुविधा न मिल पाने के कारण सन् 1991 ई. में संसद ने वही संकल्प पुनः दोहराया।)

राजभाषा : समस्याएँ और समाधान

राष्ट्रभाषा और राजभाषा के रूप में हिन्दी के विकास-इतिहास का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि सदियों से भारतीय जनता ने और पिछले चालीस-पैंतालीस वर्षों से देश की लोकतन्त्रीय सरकारों ने हिन्दी को सच्चे अर्थों

में राष्ट्रभाषा और राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए हर सम्भव प्रयास किया। इस सम्बन्ध में समय-समय पर जारी किए गए नियमों/अधिनियमों/संकल्पों/आदेशों आदि से यह भी स्पष्ट है कि राष्ट्रभाषा और राजभाषा के रूप में हिन्दी के प्रयोग-प्रसार और विकास में सदा लोकतन्त्रीय उदार और सहयोग समन्वय का दृष्टिकोण अपनाया जाता रहा है। फिर भी वर्तमान स्थिति को पूर्णतया सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता। ऊपरी साँचा और ढाँचा भले ही यह प्रदर्शित करता है कि भारत की राजभाषा हिन्दी है किन्तु उस साँचे के भीतर की आत्मा हिन्दी की न होकर अँग्रेजी की ही प्रतीत होती है। **कवि अज्ञेय ने ठीक ही कहा था—“जब हम राजनीतिक दृष्टि से पराधीन थे तब तो हमारे पास स्वाधीन भाषा थी। अब जब हम स्वाधीन हो गए, हमारी भाषाएँ पराधीन हो गईं।”**

भाषा का विकास-प्रसार और पोषण प्रयोग की उर्वर भूमि पर और व्यवहार के सिंचन से होता है। आज सबसे बड़ी समस्या प्रयोग और व्यवहार के स्तर पर उपेक्षा और उदासीनता की है। त्रिभाषा-फार्मूला कागज़ों में तो है, व्यवहार में नहीं। द्विभाषिक (हिन्दी और अँग्रेजी दोनों के प्रयोग की) स्थिति औपचारिक रूप से तो है (अर्थात् अधिकांश सरकारी दस्तावेज, फार्म, पत्र-प्रपत्र आदि दोनों भाषाओं में हैं) परन्तु व्यावहारिक रूप से उनमें कर्मचारी एवं सम्भ्रान्त नागरिक अँग्रेजी ही लिखते और प्रयोग में लाते हैं।

प्रतिवर्ष 14 सितम्बर को 'हिन्दी-दिवस' धूमधाम से सभी कार्यालयों में मनाया तो जाता है, उसमें संकल्प भी हिन्दी में लिए जाते हैं। किन्तु तत्सम्बन्धी सारी परियोजना, कार्यवाही, लिखा-पढ़ी प्रायः अँग्रेजी में ही होती है। अधिकांश सरकारी पत्र-व्यवहार अँग्रेजी में चल रहा है क्योंकि 'हिन्दी या अँग्रेजी के प्रयोग की छूट है। फिर, दोनों स्थिति में, या तो मूल पत्र हिन्दी में होना चाहिए, या मूल अँग्रेजी पत्र के साथ हिन्दी में अनुवाद होना चाहिए। किन्तु प्रायः होता यह है कि "Hindi Translation Follows"—“हिन्दी अनुवाद संलग्न है” लिखा होने पर हिन्दी अनुवाद दिया नहीं जाता क्योंकि वह सोच लिया जाता है कि काम तो अँग्रेजी से चल ही जाएगा। इस प्रवृत्ति से कर्मचारियों में हिन्दी-प्रयोग की इच्छा या आवश्यकता की अनुभूति उभरने ही नहीं पाती।

पहले यह समस्या बताई जाती थी कि हिन्दी में सभी राजकीय कार्य-कलाप सम्पन्न करने के लिए उपयुक्त और पर्याप्त पारिभाषिक शब्दावली नहीं है। विधिक और तकनीकी मामलों में हिन्दी-प्रयोग में कठिनाई होती है—इत्यादि। किन्तु अब विभिन्न सरकारी और गैर-सरकारी संस्थानों द्वारा अनेक ऐसे शब्दकोश, पर्यायवाची कोश तथा अन्य मानक साहित्य प्रकाशित हो चुका है कि किसी भी स्तर पर, किसी भी क्षेत्र में हिन्दी भाषा में सुगमतापूर्वक काम-काज हो सकता है। किन्तु कमी है—इन सुविधाओं को उपयोग में लाने की इच्छाशक्ति की। आज जब टंकण, मुद्रण और कम्प्यूटर तक के क्षेत्र में हिन्दी और देवनागरी में हर प्रकार का कार्य सम्भव हो गया है तो प्रशासकीय प्रयोजनों और कार्यालयों में हिन्दी प्रयोग सम्भव क्यों नहीं हो सकता?

इनमें सबसे बड़ी समस्या संघ लोक सेवा आयोग द्वारा विभिन्न प्रशासनिक परीक्षाओं में हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं का उपयुक्त माध्यम न बनाने की है। सन् 1968 और 1991 के संसदीय राजभाषा संकल्पों के बावजूद, इस ओर से सम्बद्ध अधिकारीगण उदासीन हैं। दिसम्बर 1989 में संसदीय राजभाषा समिति ने अपनी रिपोर्ट में स्पष्ट कहा था—“सभी भरती परीक्षाओं के लिखित प्रश्नपत्रों में और साक्षात्कार में भी हिन्दी के प्रयोग की सुविधा दी जाए। सभी प्रश्नपत्र हिन्दी में भी अनिवार्य रूप से हों। जहाँ अँग्रेजी का एक पृथक् प्रश्नपत्र अनिवार्य है वहाँ उसके विकल्प में हिन्दी भाषा का प्रश्नपत्र भी रखा जाए।” फिर भी अनेक प्रशासनिक परीक्षाओं में हिन्दी का विकल्प नहीं दिया जा रहा। 'सिद्धान्त' को 'व्यवहार' में कार्यान्वित न करने की यह प्रवृत्ति सबसे प्रमुख समस्या है।

इसी का परिणाम है कि सरकारी नौकरी पाने, जीवन-स्तर तथाकथित रूप में 'ऊँचा' बनाने तथा राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिताओं में टिक पाने के विचार से देश, की युवा पीढ़ी का मोह अँग्रेजी के प्रति बढ़ता जा रहा है। केन्द्रीय सेवाओं के सन्दर्भ में तो यह हो ही रहा है, प्रादेशिक स्तर पर भी प्रान्तीय सरकारों और लोक सेवा आयोग जैसे संस्थानों द्वारा प्रान्तीय भाषाओं की अपेक्षा अँग्रेजी को महत्त्व दिया जा रहा है।

इस प्रकार, राजभाषा के रूप में हिन्दी की प्रतिष्ठा मात्र खानापूरी बनकर रह गई प्रतीत होती है। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अनेक विश्व हिन्दी सम्मेलन हो चुके हैं, संयुक्त राष्ट्रसंघ में भारत के दो विदेशमंत्री (अटलबिहारी

वाजपेयी और पी.वी. नरसिंह राव) क्रमशः 1978 और 1984 में हिन्दी में भारत की आवाज बुलन्द कर चुके हैं और भारत के प्रथम अन्तरिक्ष यात्री राकेश शर्मा आकाश से धरती पर भारतीय प्रधानमंत्री से हिन्दी में संवाद कर चुके हैं, अँग्रेजी के अनेक पत्र हिन्दी में भी अपने संस्करण निकाल रहे हैं, मॉरिशस, नेपाल, रूस, अमरीका, चीन, जापान, जर्मन और इंडोनेशिया, बर्मा [म्याँमार], मलयेशिया आदि में उच्च स्तर पर हिन्दी में शिक्षण-शोध आदि हो रहा है—यह सभी स्थितियाँ पर्याप्त आशाजनक हैं। तथापि अपने देश के प्रशासकीय तंत्र में, राजभाषा संबंधी विभिन्न प्रावधानों को व्यवहार में लाने के लिए प्रमुख रूप से निम्नलिखित सुझाव दिए जा सकते हैं—

1. 'क' एवं 'ख' क्षेत्र के राज्यों के सन्दर्भ में द्विभाषिक (हिन्दी और अँग्रेजी) प्रयोग की छूट की स्थिति समाप्त कर दी जाए। (अब इस छूट की आड़ में कर्मचारी/अधिकारीगण अँग्रेजी-प्रयोग को ही वरीयता देते हैं।)

2. कई जगह 'असाधारण स्थिति' में हिन्दी की बजाय अँग्रेजी के प्रयोग की छूट है। उसे भी तुरन्त हटा दिया जाना चाहिए। (कोई भी व्यक्ति अपनी सुविधा के अनुसार किसी भी स्थिति को 'असाधारण' सिद्ध कर सकता है।)

3. भाषा की शुद्धि का विशेष आग्रह न करते हुए हिन्दी भाषा के प्रयोग का आग्रह किया जाए। हिन्दी को जटिल, अस्वाभाविक या अव्यावहारिक बनाए जाने के दोष से बचकर उसके सहज-सुगम स्वरूप को व्यवहार में लाया जाए। लिपि देवनागरी होने से किसी भी प्रकार के कामचलाऊ शब्दों का प्रयोग उपयुक्त होगा। संप्रेषण-संचार की सरलता मुख्य उद्देश्य होना चाहिए।

4. ऊपरी औपचारिकता, जैसे—पत्रशीर्ष, लिफाफे, नामपट्ट आदि पर हिन्दी अंकित होने की अधिक परवाह न करके, उसके भीतर की वास्तविक सामग्री को (वर्तनी या व्याकरण की सामान्य भूलों की परवाह किए बिना) देवनागरी हिन्दी में देने पर विशेष ध्यान दिया जाए।

5. हिन्दी-दिवस, हिन्दी समिति, कार्यान्वयन समिति आदि की रिपोर्टों की रस्म अदायगी छोड़कर, कर्मचारी/अधिकारी वर्ग में देवनागरी-हिन्दी के प्रयोग की मानसिकता बनाने का विशेष प्रयास किया जाए। उन्हें प्रेरित किया जाए कि वे—

(क) अधिक से अधिक डाक हिन्दी में निकालें।

(ख) कार्यालय का सभी कार्य हिन्दी में करें।

(ग) पत्रों के पते हिन्दी (देवनागरी) में लिखें।

(घ) सर्वत्र हिन्दी (देवनागरी) में हस्ताक्षर करें।

(ङ) आपसी बातचीत और जन-सम्पर्क हिन्दी में करें।

(च) मूल पत्रों के अरिक्कित टिप्पणियाँ आदि भी हिन्दी (देवनागरी) में लिखें।

(छ) सभी भारतीय भाषाओं का आदर करते हुए उनके साथ हिन्दी प्रयोग को राष्ट्रीय अस्मिता का प्रतीक मानें।

6. हिन्दी भाषी क्षेत्रों से अहिन्दी भाषी क्षेत्रों को भेजे जाने वाले हिन्दी-पत्रादि के साथ यदि सम्बद्ध (अहिन्दी) क्षेत्र की प्रादेशिक भाषा में अनुवाद भेजने की प्रवृत्ति अपनाई जाए तो इससे 'हिन्दी थोपे जाने' की भ्रान्ति दूर होगी और आपसी समन्वय बढ़ेगा।

7. विशेष रूप से सम्बद्ध कार्यालय, विभाग, मंत्रालय, प्रतिष्ठान का अधिकारी वर्ग नौकरशाही परम्परा त्यागकर लोकतन्त्रीय परम्परा के अनुसरण की मानसिकता बनाएँ।

8. अँग्रेजी के स्थान पर हिन्दी (देवनागरी) और प्रान्तीय भाषाओं में अधिकाधिक प्रशासकीय काम-काज करने और तदनुकूल वातावरण बनाने वालों का सार्वजनिक अभिनन्दन किया जाए।

अंत में, भारत के विख्यात मनीषी गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर और भारत की पूर्व प्रधानमन्त्री श्रीमती इंदिरा गांधी के निम्नलिखित कथन प्रस्तुत करना असंगत न होगा—

(क) “आधुनिक भारत की संस्कृति एक विकसित शतदल कमल के समान है, जिसका एक-एक दल एक-एक प्रान्तीय भाषा और उसकी संस्कृति है...हम चाहते हैं कि भारत की सब प्रान्तीय बोलियाँ जिनमें सुन्दर साहित्य-सृष्टि हुई है, अपने-अपने घर में (प्रान्त में) रानी बनकर रहें...और **आधुनिक भाषाओं के हार की मध्यमणि हिन्दी** भारत भारती होकर विराजती रहे।” (रवीन्द्रनाथ टैगोर)

(ख) “इतने बड़े देश में जहाँ इतनी भाषाएँ हैं, जहाँ देश की एकता के लिए एक कड़ी आवश्यक है कि कोई भाषा ऐसी हो जिसे सब बोल सकें, जो एक कड़ी की तरह सबको मिला-जुलाकर रख सके। इसलिए हिन्दी को बढ़ाना सबका काम है।” [श्रीमती इंदिरा गाँधी]

(v) समान राजभाषा और सम्पर्क भाषा (राष्ट्रभाषा, राजभाषा, संपर्क भाषा)

डॉ. दिनेशकुमार गुप्ता
रीडर, हिंदी-विभाग
मुक्त शिक्षा विद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी

आजादी (15 अगस्त, 1947 ई.) से पहले पूरे भारत को एकता के सूत्र में बाँधने के लिए एक अखिल भारतीय भाषा की अवधारणा आवश्यक मानी जाती रही। इस अवधारणा के सबल होने का मुख्य कारण था—**ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा भारतीयों पर अँग्रेजी थोपने की कूटनीति। भारत में अँग्रेजों के शासन से पहले, यद्यपि पाँच-छह सौ वर्षों तक मुस्लिम शासन रहा तथा राष्ट्रभाषा (हिन्दी) और राजभाषा (फारसी) में कभी कोई विरोध-वैमनस्य या द्वन्द्व-संघर्ष की स्थिति उत्पन्न नहीं हुई।** शाही दरबारों, अहलकारों, वजीरों और कारिंदों द्वारा कुछ विशेष शाही प्रयोजनों के लिए भले ही फारसी का प्रयोग होता रहा, **लेकिन आम जनता के विचार-व्यवहार और संपर्क-संचार की भाषा हिन्दी ही रही।** मुस्लिम-शासक-वर्ग ने देश की आम जनता से संपर्क बनाये रखने के लिए न केवल उसी (जनता की) भाषा को माध्यम बनाया, बल्कि उस वर्ग के अनेक प्रमुख व्यक्तियों ने हिन्दी में श्रेष्ठ साहित्य की रचना भी की।

इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए और समूचे देश में मानव-व्यवहार और विचारों के आदान-प्रदान तथा जीवन उपयोग-क्षमता की अनिवार्यता को ध्यान में रखते हुए हिन्दी को चुना गया। इसी आधार पर समूचे राष्ट्र की भाषा होने के नाते हिन्दी को 'राष्ट्रभाषा' का दर्जा भी दिया गया। इसमें बुद्धिजीवी, स्वतन्त्रता सेनानी, साहित्यकार, राजनेता, समाज-सुधारक तथा कलाकार और भाषानीति नियामक—सभी एकमत थे।

इस तथ्य से प्रायः सभी परिचित हैं कि भाषा और साहित्य के स्तर पर हिन्दी का उदय लगभग ग्यारहवीं शताब्दी से माना जाता है। तब से लेकर आज तक '**राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी**' की विकास-परम्परा को मुख्य रूप से तीन चरणों या सोपानों में बाँटा जा सकता है—(1) आदिकाल, (2) मध्यकाल और (3) आधुनिक काल।

राजभाषा : तात्पर्य और स्वरूप

भारत की स्वाधीनता (15 अगस्त, 1947 ई.) से पहले, हिन्दी में 'राजभाषा' शब्द का प्रयोग प्रायः नहीं मिलता। सबसे पहले सन् 1949 ई. में भारत के महान् नेता श्री राजगोपालाचारी ने भारतीय संविधान सभा में 'नेशनल लैंग्वेज' (National Language) के समान्तर 'स्टेट लैंग्वेज' (State Language) शब्द का प्रयोग इस उद्देश्य से किया कि 'राष्ट्रभाषा' (National Language) और 'राजभाषा' (State Language) में अन्तर रहे और दोनों के स्वरूप को कार्यवाही अलगाने वाली विभेदक रेखा को समझा जा सके। **संविधान सभा की कार्यवाही के हिन्दी-प्रारूप में 'स्टेट लैंग्वेज' (State Language) का हिन्दी अनुवाद 'राजभाषा' किया गया** और इस प्रकार पहली बार यह शब्द प्रयोग में आया। बाद में संविधान का प्रारूप तैयार करते समय 'स्टेट लैंग्वेज' (State Language) के स्थान पर 'ऑफिशियल लैंग्वेज' (Official Language) शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त समझा गया और 'ऑफिशियल लैंग्वेज' का हिन्दी-अनुवाद 'राजभाषा' ही किया गया। ('सरकारी' या 'कार्यालयी' भाषा नहीं)। इसी परिप्रेक्ष्य में, 'राजभाषा' शब्द का तात्पर्य है—

(क) राजा (शासक) अथवा राज्य (सरकार) द्वारा प्राधिकृत भाषा।

भारतीय लोकतन्त्र में शासक या सरकार का गठन संविधान की प्रक्रिया के अन्तर्गत होता है, अतः दूसरे शब्दों में 'राजभाषा' का तात्पर्य है—

(ख) **संविधान द्वारा सरकारी कामकाज प्रशासन, संसद और विधान-मण्डलों तथा न्यायिक कार्यकलाप के लिए स्वीकृत भाषा**

'राजभाषा' के स्वरूप को भली-भाँति समझने के लिए 'राष्ट्रभाषा' शब्द के व्यापक अर्थ पर ध्यान देना आवश्यक है। 'राष्ट्रभाषा' का अभिप्राय है—(क) राष्ट्र की भाषा अथवा (ख) समूचे राष्ट्र में प्रयुक्त होने वाली भाषा। इस दृष्टि से, भारत में प्रमुख रूप से प्रयुक्त होने वाली सभी भाषाएँ 'राष्ट्रभाषा' कहलाने की अधिकारिणी हैं। (इन प्रमुख भारतीय भाषाओं का उल्लेख भारतीय संविधान के अनुच्छेद 344 (1) और 351 के सन्दर्भ में, आठवीं अनुसूची (Scheduled VIII) के अन्तर्गत किया गया है। मूल संविधान में, इस अनुसूची में चौदह भाषाएँ दर्ज थीं। बाद में हुए संशोधनों के आधार पर हुई इस अनुसूची में अठारह भाषाएँ शामिल हुईं और अब कुल बाईस भाषाएँ इस अनुसूची में सम्मिलित हैं।

यदि किसी एक भाषा (उदाहरणतया 'हिन्दी') को संविधान में 'राष्ट्रभाषा' 'नेशनल लैंग्वेज' (National Language) के रूप में मान्यता दी जाती तो भारत की अन्य समृद्ध भाषाएँ उपेक्षित रह जातीं। सभी प्रमुख भारतीय भाषाओं का अपना गौरवपूर्ण इतिहास और समृद्ध साहित्य भण्डार है। इसलिए अपने-अपने प्रदेश और क्षेत्र में ये सभी भाषाएँ राष्ट्र के समग्र स्वरूप का समन्वित अंग हैं। किन्तु सभी क्षेत्रों या प्रदेशों (राज्यों) की अपनी भाषाओं का अस्तित्व और महत्त्व स्वीकार करते हुए भी समूचे राष्ट्र में पारस्परिक सम्पर्क, आदान-प्रदान, विचार-विमर्श, संचार-संवाद और राष्ट्रीय (अखिल भारतीय) स्तर पर पत्राचार आदि के लिए किसी एक **सम्पर्क भाषा** का होना आवश्यक है। इसके लिए भारत के सभी अग्रणी विचारक, शिक्षाविद् और राजनीतिज्ञ **हिन्दी को** ही भारत की एकमात्र सर्वसक्षम भाषा मानते रहे हैं। सन् 1937 ई. में जब भारत में पहली बार आम चुनावों के आधार पर सरकारें गठित हुईं तब 'एक अखिल भारतीय भाषा' की आवश्यकता पर बल देते हुए, भारत के अग्रणी नेता पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने कहा था—

“हर प्रान्त की सरकारी भाषा राज्य में कामकाज के लिए उस प्रान्त की भाषा होनी चाहिए। परन्तु हर जगह, अखिल भारतीय भाषा होने के नाते हिन्दुस्तानी को सरकारी तौर पर माना जाना चाहिए। अखिल भारतीय भाषा कोई हो सकती है तो वह सिर्फ हिन्दी या हिन्दुस्तानी कुछ भी कह लीजिए यही हो सकती है।”

इस प्रकार 'राजभाषा' का अभिप्राय है—**अखिल भारतीय स्तर पर राजकीय कामकाज के लिए माध्यम के रूप में प्रयुक्त होने वाली भाषा।**

राजभाषा और राष्ट्रभाषा में अन्तर

स्वतन्त्र भारत (15 अगस्त, 1947 ई.) के नए संविधान की रचना (14 सितम्बर, 1949 ई.) और भारत के गणराज्य बन जाने पर (26 जनवरी, 1950 ई.) इस संविधान के लागू होने से पहले 'राष्ट्रभाषा' शब्द का प्रयोग उसी अर्थ में होता था जिस अर्थ में आज 'राजभाषा' शब्द का प्रयोग होता है। हिन्दी का लगभग एक हजार वर्ष का इतिहास इस बात का साक्ष्य है कि यह (हिन्दी) ग्यारहवीं शताब्दी से ही प्रायः अक्षुण्ण रूप से 'राष्ट्रभाषा' के रूप में प्रतिष्ठित रही है। चाहे राजकीय प्रशासन के स्तर पर कभी संस्कृत, कभी फारसी और बाद में अँग्रेजी को मान्यता प्राप्त रही, किन्तु समूचे राष्ट्र के जन-समुदाय के आपसी सम्पर्क, संवाद-संचार, विचार-विमर्श, सांस्कृतिक ऐक्य और जीवन-व्यवहार का माध्यम हिन्दी ही रही।

बीसवीं शताब्दी के मध्य (1947 ई.) में जब भारत विदेशी साम्राज्य के बंधन से मुक्त होकर स्वायत्त लोकतन्त्र के रूप में प्रतिष्ठित हुआ तब संवैधानिक दृष्टि से 'राष्ट्रभाषा' और 'राजभाषा' को पृथक् रूप से परिभाषित किया

जाना आवश्यक था। यद्यपि व्यावहारिक स्तर पर आज संयोगवश हिन्दी 'राष्ट्रभाषा' होने के साथ-साथ 'राजभाषा' के रूप में भी मान्य है तथापि सैद्धान्तिक स्तर पर इन दोनों की अवधारणा अलग-अलग है। संक्षेप में, दोनों के स्वरूप को अलगाने वाली प्रमुख विभाजक बिन्दु-रेखाएँ निम्नलिखित रूप से समझी जा सकती हैं—

(1) **राष्ट्रभाषा** समूचे राष्ट्र के अधिकांश जन-सामान्य द्वारा प्रयुक्त होती है। देश के अधिकतर भागों में आम लोग जिस भाषा में आपसी बातचीत, विचार-विमर्श और लोक-व्यवहार करते हैं, वही **राष्ट्रभाषा** है।

दूसरी ओर, **राजभाषा** का प्रयोग प्रायः राजकीय, प्रशासनिक तथा सरकारी-अर्द्धसरकारी कर्मचारियों-अधिकारियों द्वारा होता है। विविध प्रकार के राजकीय कार्यकलाप की माध्यम भाषा राजभाषा कहलाती है।

(2) **राष्ट्रभाषा** का शब्द-भंडार देश की विविध बोलियों, उपभाषाओं आदि से समृद्ध होता है। उसमें लोक-प्रयोग के अनुसार नयी शब्दावली जुड़ती जाती है। जबकि **राजभाषा** का शब्द-भंडार, एक सुनिश्चित साँचे में ढला और प्रयोजन विशेष के लिए निर्धारित प्रयुक्तियों तक ही सीमित होता है।

(3) **राष्ट्रभाषा** जनता की भाषा है। **राजभाषा** प्रशासक वर्ग की भाषा है।

(4) **राष्ट्रभाषा** का प्रयोग अनौपचारिक रूप से, उन्मुक्त और स्वच्छंद शैली में होता है। राजभाषा औपचारिकता की मर्यादा-सीमाओं में बँधी रहती है। उसमें मानव-सुलभ सहजता, उन्मुक्तता या स्वच्छन्द कल्पना के लिए विशेष स्थान नहीं। निर्धारित और मानव-रूप से मान्य भाषा-प्रयोग की नियमावली का अनुसरण **राजभाषा** में आवश्यक है।

(5) **राष्ट्रभाषा** में राष्ट्र की आत्मा बोलती है। समूचे देश की जनता की सोच, संस्कृति, विश्वास, धर्म और समाज संबंधी धारणाएँ, जीवन के विविधतापूर्ण व्यावहारिक पहलू, लौकिक-आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ निजी और सामूहिक सुख-दुःख के भाव, लोक-नीति संबंधी विविध विचार और दृष्टिकोण राष्ट्रभाषा के माध्यम से ही साकार होते हैं।

राजभाषा की प्रकृति इससे कुछ भिन्न है। यह वैधानिक आवरण धारण किए रहती है। उसमें अधिकतर प्रशासकीय, कानूनी और संवैधानिक नियम-विधान, विधि-निषेध एवं उनसे संबंधित विवेचन-विश्लेषण किया जाता है।

(6) **राष्ट्रभाषा** राष्ट्र के समस्त सार्वजनिक स्थानों, तीर्थों, सांस्कृतिक केंद्रों, सभास्थलों, गली-मुहल्लों, हाट-बाजारों, मेलों-उत्सवों में प्रयुक्त होती है, जबकि **राजभाषा** का प्रयोग-क्षेत्र कार्यालयों की चारदीवारी तक सीमित है।

सम्पर्क भाषा के रूप में हिन्दी

'सम्पर्क भाषा' शब्द का व्यवहार अँग्रेजी शब्द लिंग्वा फ्रेंका (Lingua Frenca) के समानान्तर किया जाता रहा है। इस सन्दर्भ में इसका अर्थ हुआ—'सामान्य बोली' या 'लोक बोली'। दूसरे शब्दों में, इसे भिन्न भाषा-भाषियों के बीच व्यवहार में लाई जाने वाली कोई सामान्य या आम 'बोली' अथवा 'भाषा' कहा जाता है। इसी प्रकार व्यावहारिक प्रयोजनीयता को ध्यान में रखते हुए इस भाषा रूप को अँग्रेजी में कॉन्टेक्ट लैंग्वेज (Contact Language) या लिंक लैंग्वेज (Link Language) भी कहा गया। इसका उद्देश्य सर्वथा भिन्न था ऐसा भाषा-रूप जो भिन्न-भिन्न कार्यकलापों को व्यवहार में लाने के लिए सर्वमान्य और सम्प्रेषणीय हो सके। उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि अँग्रेज़ राजसत्ता ने भारतीय जन-समुदाय में अपने राजकीय उद्देश्यों और आपसी व्यवहार में सम्प्रेषण के लिए, अँग्रेज़ी के माध्यम से सम्पर्क साधने का काम किया था। फिर भी, उन्हें हिन्दी के माध्यम से सम्पर्क में आने को बाध्य होना पड़ा। इतना ही नहीं, विश्व के अनेक देशों में जहाँ-जहाँ राजभाषा और राष्ट्रभाषा के रूप में वहाँ की कोई भाषा स्वीकृत है, वहाँ भी अँग्रेज़ी ही आज सम्पर्क भाषा का दायित्व सफलतापूर्वक निभा रही है।

भारत में स्वतन्त्रता-पूर्व परिवेश में हिन्दी के लिए जब राष्ट्रभाषा शब्द का प्रयोग किया जाता था तो सम्पर्क भाषा, राष्ट्रभाषा और राजभाषा को एक ही अवधारणा के अन्तर्गत समझा जाता था। किन्तु धीरे-धीरे इस स्थिति में अन्तर आया। जैसे हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा अथवा राष्ट्रीय चेतना के प्रतीक रूप में कहने का अभिप्राय था कि हिन्दी सम्पूर्ण भारत में बोली और समझी जाने वाली राष्ट्रभाषा है, सरकार की राजभाषा है और साथ ही विभिन्न दैनिक क्रियाकलापों में सारे देश को एक सूत्र में पिरोने वाली सम्पर्क भाषा भी है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् संविधान में हिन्दी को भारत की 'राजभाषा' घोषित कर दिया गया। तब इसका दायित्व और बढ़ गया। भारतीय संघ की

अनेक क्षेत्रीय भाषाओं के विकास के साथ-साथ हिन्दी के प्रचार-प्रसार का विधिवत, सन्तुलित और पूर्वग्रह मुक्त प्रयोग सबका समान कर्तव्य बन गया। सभी क्षेत्रों, प्रदेशों (राज्यों) में अपनी-अपनी भाषाओं के साथ-साथ सारे राष्ट्र में पारस्परिक व्यवहार, विचार-विमर्श, संचार-संवाद और अखिल भारतीय स्तर पर पत्र-व्यवहार आदि के लिए सभी विद्वानों, शिक्षाविदों और राजनेताओं ने **सम्पर्क भाषा के रूप में हिन्दी को चुना।**

सन् 1963 के राजभाषा अधिनियम में हिन्दी के साथ अँग्रेजी को अस्थायी तौर पर सह-राजभाषा के रूप में स्वीकार तो किया गया, पर हिन्दी को ही सारे देश में सम्पर्क का माध्यम माना जाने लगा। यह अनुभव किया गया कि अब सामाजिक-सांस्कृतिक भूमिकाओं और पारस्परिक क्रियाकलाप के लिए प्रयोग में लायी जाने वाली अँग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को सक्षम बनाया जाए, ताकि सम्पर्क भाषा के रूप में इसका विस्तार क्षेत्र न केवल प्रशासनिक कार्यों तक सीमित हो बल्कि अधिक-से-अधिक सामाजिक प्रयोजनों, प्रकार्यों और व्यवहारों के लिए अधिक-से-अधिक क्षेत्रों और राज्यों में इसकी ग्राह्यता बढ़ सके। ऐसा होने पर सम्प्रेषण की समस्या दूर होगी और सारे देश में आन्तरिक सह-सम्बन्ध की भावना भी विकसित होगी।

सम्पर्क भाषा : हिन्दी का स्वरूप

‘सम्पर्क भाषा’ की कोई सर्वमान्य परिभाषा तो नहीं की गयी फिर भी दो या अधिक भाषा-भाषियों के बीच पारस्परिक वार्तालाप, आपसी व्यवहार, आदान-प्रदान, मेल-मिलाप, यातायात-सम्पर्क और विभिन्न सामाजिक प्रयोजनों-प्रकार्यों की सहजता, सरलता और प्रभावशाली ढंग से सम्प्रेषणीय बनाने में सक्षम भाषा को सम्पर्क भाषा कहा जाता है। इस कार्य के लिए ‘हिन्दी’ भाषा ही सर्वमान्य सिद्ध हुई। इसे एक उदाहरण से समझ सकते हैं। जैसे-दिल्ली, हरियाणा, पंजाब, उत्तर-प्रदेश, बिहार आदि राज्यों में लोग आपसी व्यवहार में हिन्दी का प्रयोग करते हैं। जबकि वहाँ अनेक क्षेत्रीय बोलियाँ भी विकसित हैं। परन्तु ये सभी राज्य हिन्दी-भाषी राज्य हैं, इसलिए यहाँ हिन्दी का प्रयोग पूर्णरूप से सम्पर्क भाषा के रूप में नहीं माना जाता। दूसरी ओर कोई दिल्लीवासी जब बंगलौर, तिरुवनन्तपुरम, चेन्नई आदि दक्षिण राज्य के शहरों में जाएगा या वहाँ के लोग हिन्दी आदि राज्यों में आएँगे तो खाने-पीने, यातायात का उपयोग करने आदि अनेक दैनिक और सामाजिक जीवन-व्यवहार में प्रयोग में लायी जाने के कारण हिन्दी को निश्चित ही सम्पर्क भाषा कहा जा सकता है।

इस सन्दर्भ में आज ‘सम्पर्क भाषा’ अपने पूर्व अँग्रेजी शब्द ‘लिंग्वा फ्रेंका’ से तकनीकी तौर पर भिन्न और कहीं अधिक निश्चित तथा प्रकार्यात्मक रूप से विशिष्ट है।

सम्पर्क भाषा : हिन्दी का परिप्रेक्ष्य

स्वतन्त्रता संग्राम में विभिन्न राज्यों के स्वतन्त्रता सेनानी और देशभक्त क्रांतिकारी हिन्दी भाषा के माध्यम से पारस्परिक विचार-सूत्र साधने में सफल होते थे। आज्ञाद हिन्द फौज की सम्पर्क भाषा हिन्दी ही थी। इस सन्दर्भ में महात्मा गांधी के विचार उल्लेखनीय हैं—**“मैं अँग्रेजी से घृणा नहीं करता। लेकिन यह बात जरूर है कि मैं हिन्दी से अधिक प्रेम करता हूँ...हिन्दी के माध्यम से ही हम दूसरे प्रान्तों से सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं और अन्य प्रान्तीय भाषाओं का विकास कर सकते हैं।...मैं प्रान्तीय भाषाओं के साथ हिन्दी को भी मिला देना चाहता हूँ, जिससे एक दूसरे के साथ अपना सजीव सम्बन्ध जोड़ सके। इससे प्रान्तीय भाषाओं के साथ हिन्दी की भी श्री-वृद्धि होगी।”** (गांधी : ‘हिन्दी दर्शन’, दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन, पृ. 79-83)

स्पष्ट है कि आज व्यापार-वाणिज्य, खेलकूद, खानपान, ज्ञान-विज्ञान, तकनीकी-प्रौद्योगिकी आदि के क्षेत्र में हिन्दी की प्रकार्यात्मक और प्रयोजनीय क्षमता और लोकप्रियता प्रमाणित हुई है। भारत में टेलीविजन पर ‘केबल संस्कृति’

की बाढ़ के कारण विभिन्न सरकारी और प्राइवेट केबल-चैनल के नेटवर्क में हिन्दी का सर्वाधिक उपयोग हो रहा है, क्योंकि इसके द्वारा उनका सम्पर्क अधिक-से-अधिक दर्शकों से होने के कारण उन्हें व्यावसायिक लाभ भी अधिक मिलता है।

सम्पर्क भाषा के रूप में हिन्दी की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति भी पर्याप्त विकसित और उच्च स्तर की है। विश्व के अधिकांश देशों में हिन्दी का प्रचार-प्रसार हो रहा है। अमरीका, रूस, चीन, जापान, जर्मनी, कोरिया आदि अनेक विकसित देशों में वहाँ के 100 से अधिक विश्वविद्यालयों में हिन्दी भाषा का विधिवत् अध्ययन-अध्यापन हो रहा है। इसका लाभ जहाँ एक ओर वहाँ के निवासियों और भारतीयों के बीच आपसी वार्तालाप और मेल-मिलाप में होता है, तो दूसरी ओर अपने-अपने देश के उत्पादों को भारतीय बाजारों में प्रचारित-प्रसारित करने के लिए अँग्रेजी भाषा के साथ-साथ हिन्दी जानने वाले विदेशियों को सम्प्रेषण-सम्पर्क की समस्या से नहीं जूझना पड़ता।

संयुक्त राष्ट्र संघ (UNO) में अँग्रेजी, फ्रेंच, रूसी, चीनी और स्पेनिश आदि भाषाएँ स्वीकृत हैं। अब हिन्दी को भी स्वीकृत कराने का भरसक प्रयास हो रहा है। इस प्रयास में सम्पर्क भाषा के रूप में हिन्दी की प्रभावशीलता का उद्घाटन सहज रूप में हो जाता है।

राष्ट्रभाषा, राजभाषा और सम्पर्क भाषा हिन्दी में अन्तःसम्बन्ध

1. किसी भी भाषा को 'राष्ट्रभाषा' कह दिया जाना वहाँ की राष्ट्रीय विचारधारा का प्रतीक माना जाता है। 'राजभाषा' के द्वारा शासकीय कार्यालयी और औपचारिक प्रयोजनों में सर्वस्वीकृति को लक्षित किया जाता है। 'सम्पर्क भाषा' में दो या अधिक भाषा-भाषियों के बीच आपसी दैनिक व्यवहार, वार्तालाप, अनेक सामाजिक, व्यावसायिक, आर्थिक प्रयोजनों का सफल सम्पर्क, निष्पादन और सम्प्रेषण होता है। संयोगवश उपर्युक्त तीनों प्रयोजनों के निर्वाह का दायित्व हिन्दी सहजता से निभा रही है।

2. राष्ट्रभाषा सम्पूर्ण देश में सामान्य जन समुदाय द्वारा प्रयुक्त होने वाली कोई एक सर्व-स्वीकृत भाषा होती है। अपने निश्चित प्रशासनिक, सरकारी व्यवहार क्षेत्रों में प्रयुक्त होने वाली कोई एक भाषा 'राजभाषा' घोषित की जाती है; जबकि कभी-कभी सम्पर्क भाषा एक से अधिक भी हो सकती है। जैसे अँग्रेजों के शासन में प्रायः अँग्रेजी को सम्पर्क भाषा माना जाता था, किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हिन्दी को मुख्यतः सम्पर्क भाषा के लिए सक्षम माना गया।

3. राजभाषा की अस्मिता का स्रोत संविधान होता है। लेकिन सम्पर्क भाषा की अस्मिता सामाजिक प्रयोजन और प्रकार्यात्मकता पर निर्भर करती है। सम्पर्क भाषा का विकास प्रायः प्राकृतिक और स्वैच्छिक आधार पर होता है और सामाजिक आवश्यकताओं द्वारा संचालित होता है। सम्पर्क भाषा ही प्रायः परिपक्व, सर्व-स्वीकृत और लोकप्रियता के आधार पर राष्ट्रभाषा भी बन सकती है। जापान, अमरीका, इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी आदि देशों में राष्ट्रभाषा, राजभाषा और सम्पर्क भाषा के रूप में उन देशों की अपनी एक ही भाषा का प्रयोग होता है, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ऐसे देशों को भी किसी-न-किसी सम्पर्क भाषा की आवश्यकता पड़ती है। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में अँग्रेजी भाषा ही इनके लिए सम्पर्क भाषा का माध्यम बनी हुई है।

4. विशिष्ट और तकनीकी अर्थों में दो या अधिक भाषा-भाषियों के बीच सम्प्रेषण-सम्पर्क स्थापित करने के लिए जिस भाषा का प्रयोग होता है वह 'सम्पर्क भाषा' कहलाती है; जबकि 'राजभाषा' के लिए यह आवश्यक नहीं होता। समान भाषा-भाषियों के बीच भी उनकी अपनी भाषा राजभाषा हो सकती है। लेकिन 'सम्पर्क भाषा' में प्रमुख रूप से दो या अधिक भाषा-भाषियों को होना आवश्यक है। दो स्वायत्त भाषाओं के बीच की सम्पर्क भाषा इन दोनों में से एक भी हो सकती है या कोई तीसरी भी। जैसे हिन्दी और बंगला-भाषियों और मराठी भाषा-भाषियों के बीच सम्पर्क भाषा हिन्दी जैसी तीसरी भाषा हो सकती है।

5. सम्पर्क भाषा 'हिन्दी' का प्रयोग जब सामाजिक और अनौपचारिक व्यवहार में जिन-जिन क्षेत्रों में होता है, वहाँ हिन्दी पर क्षेत्रीय भाषाओं का थोड़ा-बहुत अवश्य प्रभाव पड़ता है। जैसे-तमिल और तेलुगु भाषा-भाषी हिन्दी भाषा

का प्रयोग करते समय अपनी-अपनी भाषाओं के उच्चारण और शैली का मिश्रण अवश्य करता है। यही प्रभाव इसके शब्द भण्डार पर भी पड़ता है। हालाँकि इससे सम्पर्क भाषा समृद्ध होती है। राजभाषा का स्वरूप मौखिक और लिखित रूपों में मानकीकृत होता है। इस कारण अखिल भारतीय स्तर पर राजभाषा 'हिन्दी' में भी एकरूपता रहनी आवश्यक है। इससे स्पष्ट है कि किसी भाग को धीरे-धीरे प्रौढ़ और मानकीकरण की प्रक्रिया से अनिवार्यतः गुजरना पड़ता है। राष्ट्रभाषा होने के नाते हिन्दी में सम्पर्क-सूत्र स्थापित करने में सबको सुविधा होती है क्योंकि हिन्दी का शब्द भण्डार, वाक्य संरचना तथा व्याकरण के अन्य नियम-उपनियम सर्व सामान्य रूप में प्रचलित और स्वीकृत हैं।

6. सम्पूर्ण देश में जनता के सोच, आस्था, विश्वास, धर्म, दर्शन, संस्कृति तथा समाज के विभिन्न निजी और विविधतापूर्ण व्यावहारिक पहलुओं, धारणाओं और लोकगीतों का दृष्टिकोण राष्ट्रभाषा के द्वारा प्रसारित होते हैं, पर सम्पर्क भाषा का व्यवहार-क्षेत्र अपेक्षाकृत सीमित, सामयिक तथा तात्कालिक होता है। जैसे-हिन्दी और कन्नड़ भाषा-भाषी आपस में मिलने पर एक-दूसरे का हाल-चाल जानने, किसी विशेष स्थान या दिशा की जानकारी लेने अथवा किसी सार्वजनिक अथवा प्राइवेट वाहन से एक स्थान से दूसरे स्थान पर आने-जाने की जानकारी ले सकता है ताकि वह अपना दैनिक कार्य सरलता से सम्पन्न कर सके। इसके ठीक विपरीत राजभाषा में प्रशासन, विधि-कानून और कार्यालयी कार्य-पद्धति की बाध्यता रहती है, जो इसे औपचारिक और सीमित बना देती है। स्पष्ट है कि राष्ट्रभाषा और सम्पर्क भाषा के रूप में 'हिन्दी' अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत और अनौपचारिक रूप लिये हुए है। यह विभिन्न तीर्थों, उत्सवों-मेलों, हाट-बाजारों, रेस्तराँ और अन्य सार्वजनिक स्थानों में विचार-विनिमय का प्रकार्य सिद्ध करती है। पर राजभाषा के रूप में 'हिन्दी' का व्यवहार-क्षेत्र केवल प्रशासन तथा कार्यालय तक सीमित रहता है।

7. 'सम्पर्क भाषा' के रूप में हिन्दी सदियों से प्रयोग में लायी जा रही है, चाहे मुगल-शासन-काल हो या अँग्रेजों का शासन रहा हो। शाही दरबारों, वजीरों और कारिंदों द्वारा कुछ विशेष शाही प्रयोजनों के लिए भले ही फारसी का प्रयोग होता रहा, लेकिन आम जनता के विचार-विनिमय और सम्पर्क-संचार की भाषा 'हिन्दी' ही रही है। यही स्थिति ब्रिटिश शासन में भी थी। मुस्लिम और ब्रिटिश शासकों ने भारत की आम जनता से सम्पर्क बनाए रखने के लिए आम जनता की भाषा 'हिन्दी' को ही माध्यम बनाया।

हिन्दी के 'राष्ट्रभाषा' रूप की अवधारणा मुख्यतः भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के दौरान विकसित हुई। देश को एक सूत्र में बाँधने, अपनी जातीय अस्मिता जगाने और एकजुट होकर स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए सभी राजनेताओं विद्वानों, शिक्षाविदों और साहित्यकारों ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया। 'राजभाषा' के रूप में प्रयोजन-क्षमता, प्रशासकीय कार्य-पद्धति तथा औपचारिक प्रकार्यों को सम्पन्न करने के लिए भी 'हिन्दी' को चुना गया। इसलिए स्वतन्त्रता के बाद संविधान के निर्माण में हिन्दी को राजभाषा का दर्जा दिया गया और इसके प्रयोग की विभिन्न नियमावली बनायी गयी।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि 'हिन्दी' की सम्पर्क-क्षमता में कोई सन्देह नहीं है। इस सन्दर्भ में 'हिन्दी' को केन्द्र में रखकर अनेक प्रकार के बहुभाषा-भाषी या द्वि-भाषी कोशों का निर्माण अनेक संस्थाओं द्वारा हुआ है। दक्षिण भारत के सभी राज्यों में 'हिन्दी प्रचार सभा' और अन्य संस्थान आदि इस ओर निरन्तर प्रयासरत हैं। फिर भी सम्पर्क भाषा हिन्दी के राष्ट्रव्यापी रूप को ध्यान में रखते हुए इसके शब्द भण्डार, उच्चारण, व्याकरण और प्रयोग-व्यवहार की दृष्टि से समरूपता और स्थिरता की ओर अग्रसर रहना अनिवार्य है। यह भी निर्विवाद सच है कि जिन राज्यों में हिन्दी आज भी 'राजभाषा' का दर्जा नहीं प्राप्त कर सकी, वहाँ 'राष्ट्रभाषा' 'हिन्दी' ही निश्चित रूप से सम्पर्क भाषा का सामर्थ्यपूर्ण और व्यावहारिक दायित्व निभा रही है।

(vi) द्विभाषिकता और बहुभाषिकता

डॉ. कृष्णकुमार गोस्वामी

बहुभाषिकता और द्विभाषिकता की संकल्पना पर विचार करते हुए आपके मन में यह प्रश्न अवश्य उठेगा कि बहुभाषिकता से क्या तात्पर्य है? इसका संबंध किससे है और इसके क्या-क्या स्तर हैं? वास्तव में बहुभाषिकता भाषा का कोई रूप नहीं है। **बहुभाषिकता या द्विभाषिकता एक प्रयोक्ता के एक से अधिक भाषाओं के प्रयोग की क्षमता ही है। इसका संबंध किसी समाज-विशेष अथवा व्यक्ति-विशेष के भाषा प्रयोग से है।** बहुभाषिकता और द्विभाषिकता में कोई तात्त्विक या तकनीकी अंतर नहीं है। दो भाषाओं की प्रयोग-क्षमता को द्विभाषिकता कहा गया है और दो से अधिक भाषाओं की प्रयोगक्षमता को बहुभाषिकता की संज्ञा दी गई है। भारत बहुभाषी देश है। भारत के जनगणना सर्वेक्षण के अनुसार भारत में 1652 मातृभाषाएँ बोली जाती हैं और उनमें 33 भाषाएँ प्रमुख मानी गई हैं।

इनमें से 22 भाषाएँ-हिन्दी, संस्कृत, तमिल, तेलुगु, मलयालम, कन्नड़, मराठी, गुजराती, सिंधी कोंकणी, असमिया, बंगला, उड़िया, पंजाबी, उर्दू, कश्मीरी, नेपाली, मणिपुरी, बोडो, संथाली, डोगरी और मैथिली भारत के संविधान की आठवीं अनुसूची में रखी गई हैं। इस दृष्टि से भारत में बहुभाषिकता पूर्णतया व्याप्त है।

बहुभाषिकता अथवा द्विभाषिकता की स्थिति समाज और व्यक्ति की आवश्यकताओं के कारण पैदा हुई है। प्रत्येक बहुभाषी समाज और व्यक्ति कई भाषाओं का प्रयोग करता है और उसका दो या दो से अधिक भाषाओं के ग्रहण करने और अभिव्यक्त करने की क्षमता से द्विभाषिकता या बहुभाषिकता की स्थिति पैदा होती है। विश्व के विभिन्न भागों में रहने वाले बहुभाषी समाज काफ़ी संख्या में मिलते हैं। अमेरिका में टेक्सास, न्यू मैक्सिको, केलिफोर्निया, अमेरिकन साउथ वेस्ट आदि क्षेत्रों में अंग्रेजी और स्पेनिश भाषाओं की द्विभाषिकता की स्थिति मिलती है। भारत में दिल्ली, मुंबई, कोलकाता आदि महानगरों में अंग्रेजी, हिन्दी और अपनी प्रादेशिक भाषाओं का प्रयोग अधिकतर मिलता है। इस प्रकार विश्व के अधिकतर भाषा-भाषी समाजों में किसी-न-किसी स्तर पर द्विभाषिकता अथवा बहुभाषिकता की स्थिति मिलती है।

वास्तव में द्विभाषिकता का तात्पर्य एक व्यक्ति के दो भिन्न भाषाओं के प्रयोग करने की योग्यता से माना गया है। किंतु इस 'योग्यता' में निहित अस्पष्टता दिखाई देती है जिससे कुछ विद्वानों ने स्पष्ट करने का प्रयास किया है। किसी विद्वान ने दो भाषाओं की योग्यता को स्वभाषा या मातृभाषा के समान स्वीकार किया है तो दूसरे विद्वान ने कहा कि यह जरूरी नहीं है कि इस योग्यता से अभिप्राय स्वभाषा की समान जानकारी से हो। यह योग्यता एक भाषा में अधिकतम भी हो सकती है और दूसरी भाषा में न्यूनतम भी। एक विद्वान ने द्विभाषिकता का अर्थ वैकल्पिक रूप से सीधे ही दो भाषाओं के प्रयोग की स्थिति को स्वीकार किया है। इस प्रकार द्विभाषिकता दो भाषाओं की दैनंदिन व्यवहार में आने की स्थिति में जन्मी स्थिति है। दैनिक जीवन में संप्रेषण हेतु एक से अधिक भाषाओं का प्रयोग किसी भी व्यक्ति को द्विभाषी अथवा बहुभाषी बना देता है।

द्विभाषिकता को तीन विभिन्न संदर्भों में देखा गया है-व्यक्तिगत, सामाजिक और राष्ट्रीय संदर्भों के बीच जो अंतर है वह दूसरी भाषा के प्रयोजनमूलक प्रयोग के साथ जुड़ा हुआ है।

(क) व्यक्तिगत द्विभाषिकता : यदि कोई भाषा प्रयोजन में मातृभाषा की प्रतिपूरक स्थिति में प्रयुक्त नहीं होती तो वह द्विभाषिकता 'व्यक्तिगत' कहलाएगी। यह अस्थिर द्विभाषिकता है और इसका सीमित प्रयोग होता है। यदि कोई

हिन्दी भाषी व्यक्ति जापान, फ्रांस, जर्मनी या रूस जाना चाहता है अथवा अपनी शैक्षिक आवश्यकता के लिए इन देशों की भाषा सीखता है तो वह व्यक्तिगत द्विभाषिकता है। वह इसका प्रयोग अपने समाज में नहीं करता।

(ख) सामाजिक द्विभाषिकता : यदि कोई मातृभाषा के प्रतिपूरक के रूप में प्रयोजनमूलक भूमिका निभाता है तो वह सामाजिक द्विभाषिकता है। वह स्थिर द्विभाषिकता है। इसमें व्यक्ति अपने बहुभाषी समाज में सामाजिक सांस्कृतिक, आर्थिक आदि दबावों और परस्पर संबंधों के कारण समाज में एक से अधिक भाषाओं का प्रयोग करता है तो वह सामाजिक द्विभाषिकता है।

(ग) राष्ट्रीय द्विभाषिकता : राजनीतिक एकता और अधिक प्रगति को ध्यान में रखते हुए यदि कोई भाषा राष्ट्रीय स्तर पर प्रयुक्त होती है तो वहाँ राष्ट्रीय द्विभाषिकता की स्थिति आएगी। इस स्तर पर यदि कोई देश प्रशासनिक प्रयोजनों के लिए द्विभाषिक रहे, किंतु नागरिक अपने दैनिक जीवन में एक भाषी भी रह सकता है।

यह द्विभाषिकता **भाषा, बोली, शैली** आदि कई स्तरों पर देखी जा सकती है, जिनमें दो मुख्य हैं—(क) **अंतः द्विभाषिकता** और (ख) **अंतर द्विभाषिकता**। **अंतः द्विभाषिकता** में एक भाषाभाषी वर्ग को भाषा के विभिन्न रूपों या शैलियों को चुनना पड़ता है; जैसे— हिन्दी भाषी प्रदेश में कोई व्यक्ति किसी बोली, मानक हिन्दी, संस्कृतनिष्ठ हिन्दी, सामान्य बोलचाल की हिन्दी अर्थात् हिन्दुस्तानी आदि में से किसी एक को चुनता है। **अंतर द्विभाषिकता** में द्विभाषी या बहुभाषी वक्ता को विभिन्न प्रयोग में दो या अधिक भाषाओं का प्रयोग करना पड़ता है; जैसे— हिन्दी, अंग्रेजी अथवा अपनी मातृभाषा में से एक या दोनों का प्रयोग करता है। मनोवैज्ञानिकों ने इस द्विभाषिकता की तीन प्रणालियाँ बताई हैं: (क) **मिश्र प्रणाली** (ख) **समानाधिकृत प्रणाली** (ग) **आश्रित प्रणाली**।

(क) मिश्र प्रणाली : यह स्थिति आमतौर पर उस परिवेश से उत्पन्न होती है जहाँ वक्ता घर और घर से बाहर विभिन्न व्यवहार-क्षेत्रों में दोनों भाषाओं का मुक्त रूप से प्रयोग करता है। भारत में अंग्रेजी पढ़े-लिखे या शहरी परिवेश में पढ़े-लिखे व्यक्ति इसी कोटि में आते हैं।

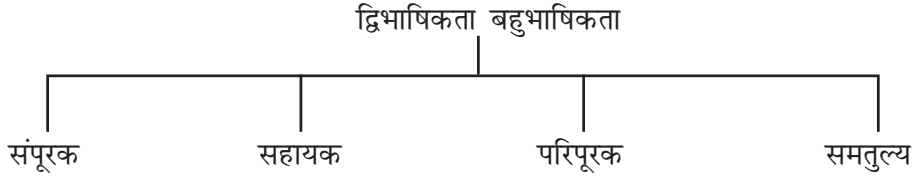
(ख) समानाधिकृत प्रणाली : यह स्थिति तब उत्पन्न होती है जब कोई व्यक्ति एक व्यवहार-क्षेत्र में (जैसे घर में) एक भाषा बोलता है और दूसरे व्यवहार क्षेत्र में (जैसे स्कूल, कार्यालय) में दूसरी भाषा बोलता है अर्थात् दोनों भाषाएँ एक दूसरे के व्यवहार क्षेत्र में नहीं बोली जाती।

(ग) आश्रित प्रणाली : यह स्थिति आमतौर पर तब पैदा होती है जब किसी परिचित भाषा के माध्यम से (अर्थात् अप्रत्यक्ष पद्धति द्वारा) दूसरी भाषा सीखी जाए। हिन्दी या अंग्रेजी के माध्यम से कोई अन्य (रूसी, जर्मन, तमिल आदि) सीखने वाले भाषाभाषी इसी वर्ग में आते हैं, जहाँ एक भाषा की दो या अधिक शैलियों का प्रयोग होता है और ये शैलियाँ न केवल सामाजिक दृष्टि से नियंत्रित होती हैं वरन् उनका सुस्पष्ट भाषायी संदर्भ भी होता है।

इस स्थिति को 'भाषाद्वैत' (डायग्लसिया) कहा गया है। वास्तव में डायग्लसिया वह स्थिति है जहाँ भाषा के दो रूप पूरे भाषाभाषी समुदाय में एक साथ विद्यमान हों और प्रत्येक की एक निश्चित भूमिका हो। इन रूपों का समुदाय में एक सुस्थिर प्रयोग होता है और उनमें एक अध्यारोपित रूप प्रयुक्त होता है; जैसे— बंगाली में 'साधु' और 'चलित' रूप, तेलुगु में 'ग्रंथिका' और 'व्यावहारिका' तथा तमिल में 'पीरू' और 'पीचू'। हिन्दी-उर्दू भाषाभाषी समुदाय की स्थिति अन्य प्रकार की है। यहाँ हिन्दी (साहित्यिक), उर्दू (साहित्यिक) और हिन्दुस्तानी तीनों रूप मिलते हैं और **इस स्थिति को 'भाषात्रैत' (ट्राइग्लसिया) कहना उचित होगा। एक अन्य रूप 'हिंग्लिश' भी उभर कर आया है।**

प्रयोजन के आधार पर द्विभाषिकता के चार प्रकार माने गए हैं— क. **संपूरक** ख. **सहायक** ग. **परिपूरक** और घ. **समतुल्य**।

इसका आरेख नीचे दिया जा रहा है—



(क) **संपूरक द्विभाषिकता** में द्वितीय भाषा का ज्ञान निजी ज्ञान की वृद्धि और प्रयोग के लिए होता। यह पुस्तकालयी भाषा होती है और इसका सक्रिय प्रयोग नहीं हो सकता। इसमें व्यक्ति सीखी हुई भाषा का प्रयोग शोध कार्य या अन्य विशिष्ट कार्य के संदर्भ में ही करता है।

(ख) **सहायक द्विभाषिकता** में व्यक्ति अपने ही समुदाय की दूसरी भाषा का ज्ञान अपने ज्ञान की सहायक भाषा के रूप में प्राप्त करता है; जैसे—**हिन्दी और संस्कृत**। इसमें हिन्दी का प्रयोग करते हुए कभी-कभी संस्कृत की भी सहायता लेनी पड़ती है।

(ग) **परिपूरक द्विभाषिकता** में सामाजिक प्रयोजनों की पूर्ति के लिए समुदाय में प्राप्त दूसरी भाषा का जानना आवश्यक है। इस स्थिति में हिन्दी और अंग्रेजी परिपूरक द्विभाषिकता के अंतर्गत आती है। वस्तुतः कुछ स्थितियों में हिन्दी का प्रयोग किया जाता है और कुछ स्थितियों में अंग्रेजी का।

(घ) **समतुल्य द्विभाषिकता** के अंतर्गत दूसरी भाषा में भी समतुल्य दक्षता प्राप्त करने की इच्छा होती है। इसमें दोनों भाषाओं पर समान अधिकार की अपेक्षा होती है। यह द्विभाषिकता स्थिर और सक्रिय होती है। जैसे— **हिन्दी समाज में अंग्रेजी का प्रयोग समतुल्य द्विभाषिकता के अंतर्गत आते हैं।**

भारतीय संदर्भ में द्विभाषिकता सशक्त पहलू है। भारत में यह स्थिति सदियों से चली आ रही है। पालि और संस्कृत, तमिल और संस्कृत, अर्धमागधी और पालि आदि द्विभाषिकता के रूप में मिल जाते हैं। प्राचीन काल में संतों और दार्शनिकों ने जनता के सामने जन भाषा के रूप में बात की जबकि अध्ययन संस्कृत आदि में किया। आठवीं शताब्दी में आदि शंकराचार्य केरल में कोचीन से चालीस किलोमीटर दूर पेरियार (पूर्णा) नदी के तट पर बसे कालडी गाँव में पैदा हुए थे। वे मूलतः मलयालम भाषी थे। उन्होंने भारत के पूर्व (जगन्नाथ पुरी) में, पश्चिम (द्वारका) में, उत्तर (बदरीनाथ) में और दक्षिण (श्रृंगेरी) में चार मठों की स्थापना की थी। 13वीं-14वीं शताब्दी में तमिल भाषी रामानुजाचार्य ने वाराणसी में राम भक्ति की ज्योति प्रज्वलित की थी। तेलुगु भाषी वल्लभाचार्य, कन्नड़ भाषी मध्वाचार्य और मलयालम भाषी निंबार्काचार्य ने वृदावन में कृष्ण भक्ति और राधा संप्रदाय की स्थापना की थी। बहुभाषी होने के कारण ही ये महापुरुष भक्ति आन्दोलन का यह महान कार्य कर पाए थे।

भारत में द्विभाषिकता की स्थिति राष्ट्रभाषा और राजभाषा के रूप में देखी जा सकती है। **इसके अतिरिक्त प्रत्येक प्रमुख भाषा या बोली संपर्क भाषा के रूप में कार्य कर रही है, लेकिन व्यापक संचार के लिए हिन्दी और अंग्रेजी का प्रयोग अधिक है। मुंबई में रहने वाला गुजराती व्यापारी प्रायः दिन में पाँच भाषाएँ बोलता है।** परिवार में गुजराती बोलता है, नौकर से या सब्जी वाले से मराठी, दूध वाले से या प्लेटफार्म पर या सिनेमा देखने के लिए हिन्दी का प्रयोग करता है। अपने व्यापारी वर्ग में कोंकणी या कच्छी का प्रयोग करता है और औपचारिक अवसरों पर अंग्रेजी का भी प्रयोग करता है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि वह इन भाषाओं के व्याकरणिक नियम जानता है। **बल्कि व्यावहारिक आवश्यकताओं ने उसे बहुभाषी बना दिया है। वास्तव में यह एक भाषायी कौशल है जिसका प्रयोग वक्ता एक सृजनशील कलाकार की भाँति करता है और स्थिति तथा विषय के अनुसार भाषायी परिवर्तन करता जाता है।**

महानगरों में भारत की प्रमुख भाषाओं के व्यक्ति जब आते हैं तो दूसरे भाषा-भाषी समुदायों में रहते हुए भी अपनी भाषा को संजोए रहते हैं और अपने रीति-रिवाजों, संस्कृति और जीवन पद्धति को बनाए रखकर अपनी भाषा को भी जीवित रखे होते हैं। तमिल और बंगला भाषा-भाषी समुदाय भारत के किसी भी राज्य में रहते हुए अपनी भाषा को जीवित बनाए रखते हैं, लेकिन गौण भाषाओं के संदर्भ में यह बात लागू नहीं की जा सकती।

द्विभाषिकता की स्थिति प्रयुक्तिपरक क्षेत्रों में भी देखी जा सकती हैं। जैसे हिन्दी भाषी क्षेत्र में विभिन्न स्तरों के न्यायालयों में प्रादेशिक बोली से लेकर हिन्दी-अंग्रेजी तक की स्थिति देखी जा सकती है।

ग्राम पंचायत	सिविल न्यायालय	जिला न्यायालय	उच्च न्यायालय	उच्चतम न्यायालय
बोली (हिन्दी)	हिन्दी (अंग्रेजी अथवा बोली)	हिन्दी (हिन्दी या अंग्रेजी)	अंग्रेजी (हिन्दी)	अंग्रेजी

उपर्युक्त विवरण में देखा गया है कि ग्राम पंचायत में क्षेत्र से संबंधित बोली का प्रयोग होता है और उच्चतम न्यायालय में मात्र अंग्रेजी का प्रयोग होता है। कोष्ठक में दी गई भाषाएँ विकल्प के रूप में प्रयुक्त होती हैं।

यही स्थिति शिक्षा के क्षेत्र में भी देखी जा सकती है, जहाँ प्राइमरी स्कूल का शिक्षण मातृभाषा या प्रादेशिक भाषा से प्रारंभ होता है और उच्च शिक्षा में अंग्रेजी प्रमुख भाषा के रूप में और हिन्दी गौण भाषा के रूप में प्रयुक्त होती है।

सरकारी कामकाज में भी द्विभाषिकता की स्थिति विद्यमान है। **ध्वनि** के स्तर पर अंग्रेजी के शब्दों का हिन्दीकरण किया गया है- तकनीकी, अंतरिम आदि। **रूपिम** के स्तर पर अंग्रेजी के शब्दों में हिन्दी का रूपिम दिया गया है- डायरीकार, बैंककारी। **शब्द** के स्तर पर हमें कई शब्द मिल जाते हैं-फाइल, ग्रेड सिविल स्टाफ आदि। यही नहीं **टिप्पणी लेखन** आदि में अंग्रेजी और हिन्दी दोनों भाषाओं के वाक्यों का प्रयोग किया जाता है। हिन्दी में टिप्पणी लिखते समय कई बार हिन्दी के शब्दों के बजाय अंग्रेजी के शब्द दिए जाते हैं। यही स्थिति लगभग अन्य राज्यों की राजभाषाओं की भी है।

इस प्रकार द्विभाषिकता अथवा बहुभाषिकता एक बहुआयामी पक्ष है। इससे समाज और व्यक्ति दोनों प्रभावित होते हैं। राष्ट्रीय स्तर पर इससे शिक्षा नीति संबंधी समस्याओं का परिचय मिलता है। भाषा नियोजन के समय इस पक्ष पर ध्यान दिया जाता है। यह तकनीकी और वैज्ञानिक प्रगति का आधार बनती है। वास्तव में औद्योगिक और नागर समाजों में जो बहुभाषी समाज होते हैं और उन्हें सरकारी संस्थाओं द्वारा जो शैक्षिक सुविधाएँ उपलब्ध कराई जाती हैं। वह सरकार की नीति के अनुसार निर्धारित भाषा में दी जाती हैं। **अतः इस परिचात्मक विस्तृत जानकारी के बाद यह कहा जा सकता है कि सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, व्यावसायिक, आर्थिक आदि पहलू बहुभाषिकता/द्विभाषिकता की स्थिति उत्पन्न करते हैं।**

2. समकालीन भारत में संस्कृति और जनसंचार

(i) संस्कृति के अभिप्राय और जन-संस्कृति की अवधारणा

डॉ. संजीव कुमार
रीडर, हिन्दी-विभाग
देशबंधु कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

“आज हमारे मुहल्ले में एक सांस्कृतिक कार्यक्रम है।”

“हमारी संस्कृति में अतिथि को देवता माना जाता है।”

“यह इलाका सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ है।”

इन तीन वाक्यों में ‘संस्कृति’ शब्द का इस्तेमाल क्या एक ही अर्थ में हुआ है? जाहिर है, नहीं। संस्कृति का मतलब अगर तीनों जगहों पर एक समान होता, तो इन वाक्यों के मायने अजीबो-गरीब होते। मिसाल के लिए, अगर हम पहले वाक्य के अनुसार नृत्य-गायन-वादन आदि को ही संस्कृति मान लें, तो दूसरे वाक्य पर उसे लागू करते ही यह अर्थ निकलेगा कि हमारे यहाँ के नृत्य-गायन-वादन इत्यादि में अतिथि को देवता माना गया है। तीसरे वाक्य पर उसे लागू करें, तो मतलब निकलेगा कि जिस इलाके की बात हो रही है, वहाँ नृत्य गायन-वादन इत्यादि का स्तर बहुत निम्न है या फिर उनका अस्तित्व ही बहुत क्षीण है। ये अर्थ कैसे अनर्थकारी हैं, कहने की जरूरत नहीं है।

गौर करें तो हम-आप सभी लोग अलग-अलग अवसरों पर अलग-अलग अर्थों में ‘संस्कृति’ शब्द का इस्तेमाल करते हैं, भले ही प्रसंगानुसार अर्थ बदले की इस प्रक्रिया के प्रति हम स्वयं सचेत न हों। **सवाल है कि ये अलग-अलग अर्थ क्या हैं? और क्या इनके बीच कोई गहरी आनुवांशिक समानता है? जिसके चलते हम बिना सचेत हुए कहीं एक को, तो कहीं दूसरे को अपना अभिप्रेत बनाते हैं?**

आइए, इस दूसरे सवाल से ही अपनी बात शुरू करें!

आनुवांशिक समानता की खोज के लिए हमें ‘संस्कृति’ का व्युत्पत्तिपरक अर्थ देखना चाहिए। व्युत्पत्ति के स्तर पर इसका अर्थ है, **परिष्करण या साफ करने, संवारने की क्रिया**। यानी अपने मूल अर्थ में संस्कृति एक ऐसी क्रिया है जो किसी वस्तु को बेहतर बनाने, संवारने, साफ-सुथरा करने, दुरुस्त करने के लिए होती है। सोचिए कि फिर ‘संस्कृत’ का क्या अर्थ होगा? ‘संस्कृत’ का अर्थ होगा, संवारने-सजाने, साफ-सुथरा करने, दुरुस्त करने की क्रिया से गुजरकर निकली हुई चीज़।

यहाँ से आप अर्थ के एक बहुत दिलचस्प खेल की तरफ बढ़ सकते हैं। आपको पता है कि ‘संस्कृत’ उस भाषा का नाम भी है, जिसके व्याकरणिक नियमों को आधार बनाकर हम ये व्युत्पत्तिपरक अर्थ निकाल रहे हैं। उस भाषा का ऐसा नामकरण करने के पीछे क्या समझ रही होगी? निश्चित रूप से यह नामकरण करते हुए प्राचीनों ने बतलाना चाहा होगा कि पहले से मौजूद भाषा की गड़बड़ियों को दूरकर और उसे साफ-सुथरा बनाकर ये रूप दिया गया है। इस नाम के चलते ही आज विद्वानों का एक बड़ा वर्ग मानता है कि संस्कृत भारत भूमि की प्राचीनतम भाषा नहीं है। उनके अनुसार, यह प्रचलित धारणा ठीक नहीं है कि प्राकृत भाषा संस्कृत से निकली हुई है; उल्टे प्राकृत का नाम बतलाता है कि वह पहले से चली आती भाषा है, जिसे सजा-संवारकर संस्कृत कहा गया। प्राकृत प्रकृति की देन के समान है, जैसे वन/ जंगल और संस्कृत उस देन का मनुष्य द्वारा सजाया-संवारा हुआ रूप, जैसे उपवन/ बगिया।

खैर, हमें प्राकृत-संस्कृत की इस बहस पर कोई फैसला नहीं सुनाना है। हमारे काम की जो बात इसमें से निकलती है वह यह कि **संस्कृति को व्युत्पत्ति के स्तर पर प्रकृति से भिन्नता के अर्थ में समझा जा सकता है।**

मानव-संस्कृति वस्तुतः मानव-प्रकृति का परिष्करण, उसकी साज-सज्जा है। मनुष्य मूलतः तो पशु है! यानी उसकी मूल प्रकृति भय, आहार, निद्रा और मैथुन की आवश्यकताओं से बंधी हुई है। संस्कृति वे सारी चीज़ें हैं, जो उसे इन आवश्यकताओं के संकरे घेरे से निकालकर मनुष्य कहे जाने के योग्य बनाती हैं और इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी एक संयमित आपूर्ति-प्रणाली विकसित करती हैं। व्युत्पत्ति की दृष्टि से

बननेवाला 'संस्कृति' का यह अर्थ ही उसके अनेक तरह के अभिप्रायों के बीच एक सामान्य आत्मा की तरह मौजूद रहता है। हम संस्कृति शब्द को आचार-व्यवहार की प्रचलित पद्धतियों, रीति-नीतियों, सामाजिक संस्थाओं और जीवन-मूल्यों के अर्थ में प्रयुक्त करें, या फिर नृत्य-गायन-वादन-काव्यसृजन आदि गतिविधियों के अर्थ में, परिष्करण का यह आशय उन प्रयोगों के पीछे विद्यमान रहता ही है।

पंडित जवाहर लाल नेहरू ने रामधारी सिंह 'दिनकर' की किताब 'संस्कृति के चार अध्याय' की भूमिका में जो लिखा है, उससे इसी बात की पुष्टि होती है—

“संस्कृति क्या है? शब्दकोष पलटने पर इसकी अनेक परिभाषाएँ मिलती हैं। एक बड़े लेखक का कहना है कि 'संसार भर में जो भी सर्वोत्तम बातें जानी या कही गई हैं, उनसे अपने को परिचित कराना संस्कृति है।' एक दूसरी परिभाषा में कहा गया है कि संस्कृति शारीरिक या मानसिक शक्तियों का प्रशिक्षण, दृढीकरण या विकास अथवा उससे उत्पन्न अवस्था है। यह मन, आचार अथवा रुचियों की परिष्कृति या शुद्धि है। यह 'सभ्यता का भीतर से प्रकाशित' हो उठना है।”

लेकिन यह ध्यान में रखें कि किसी शब्द के मूल, यानी व्युत्पत्तिपरक अर्थ से संबंध जोड़कर जब उसका अलग-अलग अर्थों में प्रयोग आरंभ होता है, तब बाद की प्रयुक्तियों का सख्ती के साथ मूलार्थ से जुड़े रहना जरूरी नहीं होता। मिसाल के लिए, जब हम 'हिंसा की संस्कृति' की बात करते हैं, तो संस्कृति के उस मूलार्थ को देखते हुए यह एक 'वदतोव्याघात-सा' लग सकता है। वदतोव्याघात का अर्थ है, ऐसी बात जो अपने-आप में एकदम अंतर्विरोधी हो, जैसे 'ठंडी आग'। अगर संस्कृति का मूलार्थ है प्राकृतिक या स्वभावगत दोषों का परिक्षालन और उससे उत्पन्न अवस्था, तो हिंसा को, जो कि मनुष्य के मूल पशु-स्वभाव का हिस्सा है, संस्कृति का अंग कैसे मान सकते हैं! लेकिन पीछे हमने देखा है कि 'संस्कृति' का प्रयोग आचार-व्यवहार, तौर-तरीके के अर्थ में होता है। अगर उस आचार-व्यवहार-तौर-तरीके में हिंसा मौजूद है, तो प्रचलित तौर-तरीके के अर्थ में हिंसा की संस्कृति की बात करना कोई वदतोव्याघात नहीं है।

संस्कृति के इस अर्थ-विस्तार की, जिसमें वह अपने मूलार्थ से 180 डिग्री उलट छोर पर पहुँचती प्रतीत होती है, चर्चा इसलिए जरूरी है कि इससे हमें संस्कृति के समकालीन (आजकल के) अभिप्रायों को समझने में मदद मिलेगी। आज संस्कृति का अध्ययन करते हुए हम जिन-जिन चीजों और प्रवृत्तियों को उसके दायरे में लाते हैं, उन्हें, सम्भव है, एक पुराने मिजाज का 'संस्कृतिप्रेमी' संस्कृति का विनाशक मानता हो। यानी संस्कृति-सम्बन्धी वह समझ जो उसके परिष्करण वाले पक्ष पर अतिवादी तरीके से बल देती है और इसीलिए बेहद नफासत वाली कला को ही संस्कृति में परिगणित करना चाहती है, इस पद के आशय को बहुत संकरा कर देती है—इतना कि बहुसंख्यक आबादी की कला-रुचियाँ और सोच-विचार उसकी चौहद्दी से बाहर ही रह जाते हैं। इसलिए यह ध्यान में रखना चाहिए कि इस पद के व्युत्पत्ति परक अर्थ की अतिवादी तरीके से व्याख्या करते हुए लगातार उसकी उंगली पकड़े रखना बिल्कुल गलत होगा। **भलाई इसी में है कि उसकी उंगली पकड़कर कुछ दूर तक चलें और फिर आधुनिक अनुशासनों की ज़मीन पर आकर उससे मुक्त हो जाएँ।**

आज अध्ययन-अध्यापन की दुनिया में 'संस्कृति' अंग्रेज़ी शब्द 'कल्चर' के हिन्दी प्रतिशब्द के रूप में ही प्रयुक्त होता है। अपनी प्रख्यात पुस्तक 'कीवर्ड्स' में रेमंड विलियम्स ने 'कल्चर' को अंग्रेज़ी भाषा के सबसे जटिल दो-तीन शब्दों में से एक बताया है। यह जटिलता, उनके अनुसार, अंशतः तो विभिन्न यूरोपीय ज़बानों में इस पद के अर्थ के ऐतिहासिक विकास के चलते है, लेकिन मुख्यतः इस वजह से है कि यह पद मुख़्तलिफ़ बौद्धिक अनुशासनों में तथा एक-दूसरे से विशिष्ट और परस्पर बेमेल ठहरने वाली अलग-अलग विचार-व्यवस्थाओं में महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं के लिए इस्तेमाल होने लगा है।

विलियम्स ने इस पद के काल-भेद तथा स्थान-भाषा-भेद से बनने वाले अनेक अभिप्रायों की छानबीन करते हुए अंततः मौजूदा समय में इसके इस्तेमाल की तीन व्यापक सक्रिय कोटियों (थ्री ब्रॉड एक्टिव कॅटगरी ऑफ़ यूसेज़) का जिक्र किया है : (1) एक स्वतंत्र और अमूर्त संज्ञा, जो **बौद्धिक, आध्यात्मिक और सौंदर्यशास्त्रीय विकास की एक सामान्य प्रक्रिया** को बतलाती है; (2) सामान्य रूप से या विशिष्ट स्तर पर इस्तेमाल होने वाली एक स्वतंत्र संज्ञा, जो **लोगों की या किसी दौर की या किसी समूह अथवा सामान्यतः मानवता की एक खास जीवन-पद्धति** को

इंगित करती है; (3) एक स्वतंत्र और अमूर्त संज्ञा, जो **बौद्धिक और, खास तौर पर, कलात्मक गतिविधियों तथा उससे निकली कृतियों** को अभिहित करती है।

इन तीनों को थोड़ा ठहरकर समझने की जरूरत है। सबसे पहले कोटि संख्या 1 को लें। यहाँ 'संस्कृति' पद 'सभ्यता' के सहचर और पूरक की तरह आया है। हम जानते हैं कि मानवता की विकास-यात्रा में विज्ञान और प्रौद्योगिकी पर आधारित स्थूल उपादानों (यातायात के साधन, उत्पादन के साधन इत्यादि) का विकास भी शामिल है और हमारी भौतिक आवश्यकताओं से सीधे-सीधे न जुड़नेवाले अपेक्षाकृत सूक्ष्म पहलुओं (दर्शन, धर्म, संगीत इत्यादि) का विकास भी शामिल है। **इनमें से पहले को हम 'सभ्यता' और दूसरे को 'संस्कृति' से अभिहित करते हैं।** पहली कोटि संस्कृति के इसी आशय की ओर संकेत करती है। दूसरी कोटि में संस्कृति का आशय जीने का विशिष्ट तौर-तरीका है। इसमें रीति-रिवाज, आचार-व्यवहार, सामाजिक धारणाएँ और जीवन-मूल्य, भिन्न-भिन्न हैसियत-उम्र-लिंग के लोगों के बीच के संबंध-ये तमाम चीजें आती हैं। ये ऐसी चीजें हैं, जो एक समाज या एक दौर से दूसरे समाज या दूसरे दौर में, थोड़ी या ज़्यादा, अलग पाई जाती हैं। इसीलिए **'खास तरह की' जीवन-पद्धति** की बात की गई है। इस खासियत के चलते ही एक समाज दूसरे समाज से और एक युग दूसरे युग से भिन्न ठहरता है। तीसरी कोटि में संस्कृति कलात्मक गतिविधियों और उसके उत्पादों के लिए प्रयुक्त होने वाली संज्ञा है। इसे रेमण्ड विलियम्स ने इस शब्द का सबसे अधिक प्रचलित इस्तेमाल बताया है। इस अर्थ में जब हम संस्कृति की बात करते हैं, तो उसका मतलब संगीत, चित्रकला और शिल्पकला, थियेटर और फिल्म इत्यादि से होता है।

'संस्कृति' के इन अभिप्रायों में से हमारा सबसे अधिक सामना दूसरे और तीसरे अभिप्राय से ही पड़ता है। या तो हम साहित्य और कलाओं के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग करते हैं या फिर व्यापक स्तर पर जीवन-पद्धति के अर्थ में, जिसके अंतर्गत सामाजिक रीति-रिवाज, पर्व-त्योहार, मान्यताएँ और धारणाएँ सभी की गिनती होती है। यह याद रखें की जीवन-पद्धति कोई स्थूल वस्तु नहीं है। वह अदृश्य वायुमंडल के समान हमारे पूरे जीवन में, हमारे हर व्यवहार में, हर प्रतिक्रिया और अनुक्रिया में व्याप्त रहती है। एक बढ़ता हुआ बच्चा इसे अपने सामाजिक वातावरण से सीखता है। इसे **'एनकल्चरेशन'** कहते हैं। इस सीखने में सिर्फ पर्व-त्योहार मनाने की सीख या अलग-अलग मौकों के रीति-रिवाज सीखना शामिल नहीं है। अपनी न्यूनतम भौतिक जरूरतों से परे किसी चीज के लिए हम किस तरह की भावनाएँ रखेंगे, कितना आनंदित या दुखी होंगे, सुख और दुख को कैसे व्यक्त करेंगे, किन चीजों का बुरा मानेंगे, किनसे उपकृत होंगे—ये सब भी हम सीखते ही हैं। **यानी अपने दैनंदिन जीवन की ऐसी बहुतेरी चीजें जिन्हें हम प्राकृतिक मानते हैं, वस्तुतः सीखी हुई होती हैं और उनसे हमारी संस्कृति बनती है।** इसीलिए कहा गया है कि **'संस्कृति हमारे दिमाग की सामूहिक प्रोग्रामिंग है जो एक समूह या श्रेणी के सदस्यों को दूसरे से विशिष्ट बनाती है'** (Culture is a collective programming of the mind that distinguishes the members of one group or category from another.)

सांस्कृतिक अध्ययन में दिलचस्पी रखनेवाले लोग जब साहित्य, संगीत, जनसंचार माध्यमों इत्यादि की बात करते हैं, तो वे सख्ती से रेमण्ड विलियम्स के बताये तीसरे आशय पर ही टिके नहीं होते। वस्तुतः ये सांस्कृतिक उत्पाद उनके लिए चली आती-बनती-बदलती जीवन-पद्धति के अध्ययन का ही जरिया बनते हैं। **अर्थात् सांस्कृतिक अध्ययन के अंतर्गत संस्कृति के इन दोनों अभिप्रायों की गहरी पारस्परिकता और निर्भरता दिखलाई पड़ती है।**

जन-संस्कृति या पॉप्यूलर कल्चर की अवधारणा

जन-संस्कृति की चर्चा करते हुए 'संस्कृति' पद का इस्तेमाल 'बौद्धिक और विशेषतः कलात्मक गतिविधियों तथा उनसे निकली कृतियों' के अर्थ में ही होता है। यानी 'संस्कृति' यहाँ साहित्य, संगीत, थियेटर, फिल्म, जनसंचार माध्यमों से प्रसारित होनेवाली रचनाओं के अर्थ में प्रयुक्त पद है और इनके भीतर ही जन-संस्कृति नामक एक विशेष श्रेणी की चौहद्दियाँ हम तय करने जा रहे हैं।

'जन-संस्कृति' यहाँ अंग्रेज़ी के 'पॉप्यूलर कल्चर' के लिए आया है। पश्चिम में इस अवधारणा पर ख़ासी बहस होती रही है और इतने परस्पर विरोधी तरीकों से इसे परिभाषित किया जाता रहा है कि इसकी कोई एक निर्विवाद

परिभाषा प्रस्तुत कर पाना मुमकिन नहीं है। हाँ, अलग-अलग लोगों द्वारा मुखल्लिफ़ मौकों पर इस पद का जिन-जिन अर्थों में इस्तेमाल होता है, उसे मोटे तौर पर इन चार वर्गों में रखा जा सकता है—

1. जनता के एक बड़े हिस्से द्वारा जिसे पसन्द किया जाए, वह जन-संस्कृति है : यह जन-संस्कृति के संबंध में एक कॉमन-सेंस वाली समझ है, जिसके अनुसार किताब, कैसेट, डी.वी.डी. आदि की बिक्री, बॉक्स-ऑफ़िस कलेक्शन, कार्यक्रमों में उमड़ती भीड़ और टिकटों की बिक्री इत्यादि परिमाणात्मक सूचकों से यह पता लगाया जा सकता है कि किस चीज़ की क्या लोकप्रियता रही है। उसके आधार पर ही ये तय होता है कि कौन-से कला-उत्पाद जन-संस्कृति के दायरे में शामिल हैं और कौन नहीं।

2. उच्च संस्कृति के दायरे से जो कुछ बाहर रह जाता है, वह जन-संस्कृति है : जन-संस्कृति का यह अभिप्राय इस समझ पर टिका है कि समाज में बहुत थोड़े-से सुरुचिसम्पन्न लोगों की विकसित कलाभिरुचियों को संतुष्ट करने वाली एक उच्च संस्कृति का अस्तित्व होता है। इसके दायरे से बाहर पड़ने वाली कृतियाँ जन-संस्कृति के दायरे में आती हैं। यह माना जाता है कि उच्च संस्कृति में परिगणित होने वाले साहित्य, संगीत, दृश्य-श्रव्य-माध्यम आदि में कलात्मक जटिलता, अर्थ की गहराई और अंतर्दृष्टियाँ अधिक होती हैं, इसीलिए वह अपने पाठक-दर्शक-श्रोता से एक विकसित आस्वाद-क्षमता की मांग करती है। इसके विपरीत जन-संस्कृति वह होती है, जिसका उपभोक्ता बनने के लिए विकसित आस्वाद-क्षमता की दरकार नहीं होती। उच्च संस्कृति सुरुचिसंपन्न अभिजन की संस्कृति है, जबकि जन-संस्कृति अपेक्षाकृत सतही अभिरुचियों वाले सामान्य जन की संस्कृति है।

3. जनसंचार-माध्यमों द्वारा थोपी जा रही संस्कृति जन-संस्कृति है : 'पॉप्यूलर कल्चर' या जन-संस्कृति को 'मास-कल्चर' के पर्याय के रूप में भी इस्तेमाल किया जाता रहा है। मास-कल्चर का मतलब है, जनसंचार माध्यमों—टी.वी., फ़िल्म, रेडियो, अख़बार इत्यादि—द्वारा सुसंगठित स्तर पर तैयार किए जाने वाले और जनता के आगे परोस दिए जाने वाले सांस्कृतिक उत्पाद। माना जाता है कि ये उत्पाद जनता के अपने नियंत्रण से परे होते हैं। जनता से उसका रिश्ता एक तरफ़ा होता है। जनता तो इन उत्पादों की मूक उपभोक्ता बनी रहती है। इसीलिए मास-कल्चर इन माध्यमों को चलाने वाले पूंजीपति वर्ग के विचारधारात्मक वर्चस्व का साधन बनता है। जन-संस्कृति का यह आशय उसे प्राक्-औद्योगिक समाज की 'लोक-संस्कृति' के बरक्स रखता है और यह दिखलाता है कि कैसे औद्योगीकरण से पहले के समाज में जनता अपनी संस्कृति की रचयिता स्वयं होती थी। जनता द्वारा रचे गए उन्हीं गीतों, स्वांगों, नाटकों आदि को हम लोक-संस्कृति के नाम से जानते हैं। इससे उलट औद्योगिक समाज में जनता के बीच प्रचलित तमाम सांस्कृतिक रूप स्वयं उसके द्वारा नहीं, बल्कि बड़ी पूंजी के संगठित तंत्रों के भीतर रचे जाते हैं और जनता की भूमिका निष्क्रिय उपभोक्ता की होती है।

4. जनता की अपनी सृजनशीलता की पैदावार है जन-संस्कृति : यह आशय तीसरे वाले आशय से ठीक विपरीत है। यहां जन-संस्कृति उसी को माना गया है, जो प्राक्-औद्योगिक समाज की 'लोक-संस्कृति' के समान जनता द्वारा रचा जाता है। इस आशय में यह भी निहित है कि मौजूदा समाज की पूंजीवादी-विचारधारात्मक-वर्चस्व वाली प्रभावी संस्कृति के प्रतिरोध के तौर पर जनता की यह सांस्कृतिक अभिव्यक्ति सामने आती है। यह जनता या उसके किसी हिस्से की सृजनात्मकता से रची जाती है और मास-कल्चर के पतनशील प्रभावों से मुक्त होती तथा मुक्त करती है।

अलग-अलग अवसरों पर अलग-अलग लोगों द्वारा 'जन-संस्कृति' पद का प्रयोग इनमें से किसी एक आशय के साथ होता रहा है। इन सभी आशयों के पीछे कुछ-न-कुछ तर्क हैं और इन सबकी अपनी-अपनी सीमाएँ हैं।

सबसे पहले हम 'लोकप्रियता' को आधार बनाने वाली परिभाषा को लें। चूँकि जन-संस्कृति को अंग्रेज़ी में 'पॉप्यूलर कल्चर' नाम ही दिया गया है, इसलिए यह ज़ाहिर है कि लोकप्रिय होना उसकी एक महत्वपूर्ण पहचान कही जा सकती है। दिक्कत इसमें यह है कि लोकप्रियता के परिमाणात्मक निर्धारण में वह आंकड़ा कैसे तय करें, जिसे जन-संस्कृति का 'कट-ऑफ़ नंबर' कहा जा सकता है। यानी किताबों, कैसेटों, सीडी-डीवीडी, टिकटों इत्यादि की बिक्री का वह कौन-सा स्तर है, जिसके ऊपर जाने वाले को लोकप्रिय और नीचे रहने वाले को अलोकप्रिय कहा जाए? इसकी दिक्कत ये भी है कि जिन चीज़ों को हम उनके रूप की वजह से 'लोकप्रिय' की श्रेणी में रखते हैं, लेकिन बाज़ार में वे पिट जाती हैं, उनका क्या होगा? मसलन, कोई टी.वी. सीरियल, जो लोगों की पसन्द नहीं बन पाया और इसीलिए कुछ कड़ियों के बाद बंद हो गया, या कोई चलताऊ ढब-ढरें वाला म्यूज़िक ऐलबम जिसकी बिक्री बहुत कम हो पाई? इन वजहों से 'लोकप्रियता' को जन-संस्कृति का बुनियादी अभिलक्षण बता पाना निरापद नहीं है।

‘नेति-नेति’ पद्धति पर यह कहना कि जो उच्च संस्कृति नहीं है, वह जन-संस्कृति है, अपने-आप में समस्यामूलक है। यहाँ उच्च संस्कृति को जितना सुपरिभाषित मान लिया गया है, उतनी वह है नहीं। ऐसा नहीं है कि कुछ खास तरह के अभिलक्षणों को विभाजक रेखा मानकर हम उसके आर और पार उच्च संस्कृति तथा जन-संस्कृति का वजूद चिन्हित कर सकते हैं। अक्सर देखा जाता है कि जो कल तक लोकप्रिय कला-रूप के तौर पर ग्रहण किया जाता रहा था, वह आज बदली हुई परिस्थितियों और बदले हुए मानदंडों के चलते ‘क्लासिक’ में गिना जाने लगता है। चार्ली चैप्लिन की फ़िल्में इसका महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं।

इसी तरह प्रेमचंद के उपन्यासों को हम कहां रखेंगे? उनमें इस तरह की कोई विभाजक रेखा बेमानी हो जाती है। वे खूब पढ़े और सराहे जाते हैं, आम जनता के बीच लोकप्रिय हैं और साहित्यिक गुणवत्ता के हर मानक के लिहाज से उच्च संस्कृति में परिगणित होने की भी योग्यता रखते हैं। **कहने की जरूरत नहीं कि उच्च संस्कृति का एक सुपरिभाषित दायरा मानकर उसके बाहर पड़नेवाले को जन-संस्कृति कहना पूरी तरह निरापद नहीं है।**

तीसरे और चौथे बिन्दुओं में जो समझ व्यक्त हुई है, वह **जनता की रचनात्मक भागीदारी के सवाल** को केन्द्र में रखती है। एक समझ यह कहती है कि जन-संस्कृति में सृजन के स्तर पर जनता की भागीदारी बिल्कुल नहीं है और वह ऊपर से थोपे गए उत्पादों की निष्क्रिय उपभोक्ता मात्र है। दूसरी समझ इसी सवाल को लेकर उससे ठीक उलट समझ रखती है। उसके अनुसार थोपे गए उत्पादों की भीड़ में जहाँ जनता की रचनात्मकता सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों का रूप लेती है, वहीं जन-संस्कृति का वजूद माना जा सकता है। **इन दोनों समझों की दिक्कत ये है कि बहुत कम सांस्कृतिक रूपों को शुद्ध रूप से इस या उस कोटि में रखना मुमकिन है।** ज़्यादातर जगहों पर जनता के ऊपर ‘थोपे जाने’ और जनता द्वारा ‘रचे जाने’ के बीच एक तरह की आवाजाही दिखलाई पड़ती है। क्या यह कहा जा सकता है कि जिस तरह के टेलीविज़न सीरियल आजकल बन रहे हैं, उनके लेखक-निर्देशक स्वयं जनता का एक हिस्सा न होकर शुद्ध रूप से पूंजीवादी उत्पादन-गृहों के यंत्र के समान हैं और उन सीरियलों के दर्शक वर्ग क्या सचमुच एक निष्क्रिय उपभोक्ता होते हैं, जिनकी पसंद-नापसंद-स्वीकार-अस्वीकार का कोई दबाव उनके ऊपर नहीं होता? यह बहुत ही जटिल मुद्दा है और इसके बारे में कोई एकतरफ़ा राय सीधे-सीधे नहीं दी जा सकती।

कुल मिलाकर, जन-संस्कृति की अवधारणा खासी उलझी हुई है और उसका अंग्रेज़ी प्रतिशब्द—‘पोप्यूलर कल्चर’—भी पहली नज़र में चाहे जितना आसान व सुपरिभाष्य प्रतीत हो, इस अवधारणा की कोई मुकम्मिल तस्वीर बनाने में हमारी बहुत मदद नहीं करता।

इन सबके बावजूद एक बात तय है जिन फ़िल्मों, संगीत-अल्बमों, टेलीविज़न कार्यक्रमों इत्यादि से हमारा सामना रोज़-रोज़ और बहुतायत में पड़ता है, वे जन-संस्कृति के अंतर्गत गिने जाते हैं। जन-संस्कृति के अध्येता उनके भीतर से ही अपनी-अपनी प्राथमिकता के अनुसार चुनने-छांटने का काम करते हैं। अर्थात् वह मूल वस्तु, जिसके अभिलक्षणों को लेकर सांस्कृतिक अध्ययन के इलाके में इतना विवाद है, उसकी शकल अपने-आप में कुछ ज़्यादा धुंधली नहीं है।

जहाँ उस मूल वस्तु के विश्लेषण का सवाल आता है, वहाँ अलग-अलग नज़रिये सक्रिय हो जाते हैं। इन नज़रियों में से आखिरी दो संस्कृति के अध्ययन के क्षेत्र में सबसे अधिक प्रचलित हैं और **ऐसा लगता है कि जन-संस्कृति संबंधी संतुलित दृष्टि इन दोनों के कहीं बीच से ही निकल सकती है।** शायद यह कहना अनुचित न होगा कि जन-संस्कृति दरअसल शासकवर्गीय विचारधारा और प्रतिरोध की विचारधारा के संघर्ष की ज़मीन है, जहाँ अलग-अलग सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों के बीच और कई बार एक ही अभिव्यक्ति के भीतर इस संघर्ष को देखा जा सकता है। सांस्कृतिक अध्ययन काफ़ी बड़े अंश में इसी संघर्ष को चिन्हित करने का काम करता है।

सम्भावित प्रश्न—

1. संस्कृति शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए इसके स्वास्थ्य का विवेचन कीजिए।
2. संस्कृति और जन-संस्कृति (पाप्यूलर कल्चर) का अंतर स्पष्ट कीजिए।
3. पाप्यूलर कल्चर (जन-संस्कृति) शब्द का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए इसकी अवधारणा का मूल्यांकन कीजिए।
4. जन-संस्कृति की अवधारणा में प्रिंट मीडिया और इलैक्ट्रॉनिक मीडिया की भूमिका का वर्णन कीजिए।

(ii) संस्कृति और जन-संचार माध्यम

डॉ. बलवन्त कौर
प्रवक्ता, हिंदी-विभाग
मिराण्डा हाउस
दिल्ली विश्वविद्यालय

संचार और जन-संचार

संचार सामाजिक जीवन का आधार है। अंग्रेजी में इसके लिए 'कम्यूनिकेशन' (Communication) शब्द का प्रयोग किया जाता है। जिसका अर्थ है—सूचनाओं, विचारों और दृष्टिकोणों का एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति एक पहुंचाना। इस रूप में संचार को सहभागिता और साझेदारी की प्रक्रिया कहा जा सकता है। संचार हीनता एक तरह की संवाद हीनता होती है। इसलिए प्रत्येक समाज में संचार की स्थिति अपनी-अपनी जरूरतों के हिसाब से सदैव विद्यमान रहती है। जैसे, सभी समाजों की प्रारम्भिक अवस्था में 'फेस टू फेस' (अंतर-वैयक्तिक) संचार की स्थिति विद्यमान थी। फिर धीरे-धीरे समाज में मेले, त्यौहारों, प्रवचनों, सभाओं, गोष्ठियों आदि के रूप में 'समूह संचार' का विकास हुआ। सभ्यता के विकास क्रम ने संचार के आधुनिक माध्यमों जैसे समाचारपत्र, पत्रिकाओं, रेडियो और टेलीविजन के उदय ने—'जनसंचार' को विकसित किया।

'जनसंचार' जिसे अंग्रेजी में 'मास-कम्यूनिकेशन' (Mass-Communication) कहते हैं। संचार के इस रूप में एक विशाल जन-समूह को सम्बोधित किया जाता है। यह ऐसा जन-समूह होता है जो सीधे-सीधे संचारक या सम्प्रेषक के सामने मौजूद नहीं होता और जिस तक पहुंचने के लिए किसी-न-किसी माध्यम की आवश्यकता होती ही है। अखबार, रेडियो, टी.वी. और साइबर माध्यम यही काम करते हैं अर्थात् बहुसंख्यक समुदाय तक सूचना, मनोरंजन, ज्ञान, और कल्याण की सामग्री पहुंचाते हैं। विश्व के अनुभव जगत को बदलकर उसे 'ग्लोबल विलेज' बनाने में इन आधुनिक माध्यमों की अहम भूमिका है। क्योंकि ये आधुनिक संचार-माध्यम सूचनाओं को तत्काल सम्पूर्ण विश्व में प्रसारित करने की क्षमता रखते हैं। इन माध्यमों ने अपने आगमन के साथ संचार की प्राचीन प्रणालियों को न केवल प्रभावित किया बल्कि सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन में भी बदलाव ला दिया।

इस अध्याय में हम जन-संचार के प्रिंट, इलेक्ट्रॉनिक और विज्ञापन माध्यमों के संदर्भ में ही संस्कृति का अध्ययन करेंगे। पर इस अध्ययन से पहले संस्कृति और जन-संचार के सम्बन्ध और प्रिंट पूर्व संचार यानि वाचिक संस्कृति से परिचित होना आवश्यक है।

जन-संचार और संस्कृति

संचार और संस्कृति का संबंध मानवीय सभ्यता से ही देखा जा सकता है। 'संस्कृति' एक बहुआयामी अवधारणा है। सामान्यतः इस सम्पूर्ण मानवीय अनुभव को व्यक्त करने के लिए प्रयोग किया जाता है। फिर भी 'संस्कृति' को जीवन के आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि पहलुओं से अलग करके उसकी परिभाषा की जाती है कि 'संस्कृति' अर्थ के (मीनिंग के) प्रतीकात्मक निर्माण, अभिव्यक्ति और वितरण का क्षेत्र है। जो भी मानवीय कर्म किसी प्रकार की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति के रूपों का निर्माण करते हैं वे सांस्कृतिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण माने जाते हैं। जैसे—भाषा, नृत्य, संगीत, साहित्य आदि।

संचार व्यवस्था जैसे-जैसे विकसित होती और परिष्कृत होती है या बदलती है। वैसे-वैसे इन सांस्कृतिक कर्मों की अभिव्यक्ति और वितरण को प्रभावित करती है। जैसे मुद्रित साहित्य को एक खास समूह से अलग ले जाकर सर्वजन सुलभ बनाती है। टेलीविजन, फिल्म जैसे दृश्य-श्रव्य माध्यम नृत्य, संगीत जैसे रूपंकर कलाओं को बहुत कम समय में सम्पूर्ण विश्व में प्रसारित कर देते हैं। इससे काफी संस्कृतियों का प्रचार-प्रचार, मिश्रण और निर्माण भी होता है। जैसे बम्बईया हिन्दी पूरे भारत में फैल जाती है और संगीत में पॉप और सूफी का फ्यूजन लोकप्रिय हो जाता है।

(1) वाचिक संस्कृति

भाषा के विकास ने मानव जीवन में मूलभूत परिवर्तन किए। भाषा के विकास से पहले मानव संकेतों, चित्रों आदि के द्वारा ही अपने को अभिव्यक्त कर पाने में सक्षम था। यानि समाज में “फेस टू फेस’ संवाद की स्थिति ही संभव थी। प्राचीन लोक साहित्य, पौराणिक कहानियाँ, परम्पराएँ आदि इसी मौखिक संवाद के जरिये ही समाज में सुरक्षित थीं। इसीलिए एक ही कथा के अनेक रूप समाज में विकसित थे। क्योंकि इस समाज में सब कुछ स्मृति पर आधारित था। उनका इतिहास केवल उनके वर्तमान में ही था। ऐसे समाज में कोई लेखक नहीं था बल्कि सब Performer या अभिनेता थे। इसके बाद लिपि के आविष्कार ने संचार के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया। समाज में वक्ता और श्रोता के सम्बन्ध बदल गए। लिपि ने ज्ञान और कलाओं को ‘स्थायित्व’ प्रदान किया। पत्तों, मिट्टी के बर्तनों, चमड़े की वस्तुओं आदि पर लिखकर व्यक्ति अपने संचित ज्ञान को आने वाली पीढ़ी तक सुरक्षित रख सकने लगा था। इस लिखित प्रमाण के कारण अब अभिनेता या कथा वाचक के द्वारा गाई या सुनाई जाने वाली कहानियों के तथ्यों में छुपे सच व झूठ को जाना जा सकता था।

लिपि के आविष्कार ने भले ही ज्ञान के स्थायित्व का महत्वपूर्ण काम किया पर यह भी सत्य है कि जिन्होंने लिखना-पढ़ना सीख लिया, वे समाज में शक्तिशाली हो गए। क्योंकि वे अपने पास लिखित प्रतिलिपि को संचित (Store) करके रख सकते थे। बाकी लोगों को इसके लिए उनपर निर्भर होना पड़ता था। **यही वह बिन्दु है जहाँ पश्चिम में ‘चर्च’ या ‘राज्य’ की और भारत में ‘पुरोहितों’, मठाधीशों’ की शक्ति का उदय हुआ। प्रसिद्ध समाजशास्त्री श्यामाचरण दूबे भी मानते हैं कि—“लिपि एक चमत्कारिक शक्ति थी जिसपर अधिकार रखने वाले थोड़े से लोगों को समाज में ऊंचा स्थान मिला। ज्ञान अब छोटे-से वर्ग के हाथों में आ गया जिसका उपयोग उन्होंने बहुत-कुछ अपने हितों में किया।”** आगे चलकर छापे (मुद्रण, Printing Press) के आविष्कार ने इस वर्चस्व को तोड़कर ज्ञान को सर्वजन सुलभ बनाने की प्रक्रिया का आरम्भ किया।

(i) प्रिन्ट संस्कृति और समाचारपत्र व पत्रिकाएँ

प्रिन्ट तकनीक से पहले कागज़ का आविष्कार हुआ। कागज़ के आविष्कार का श्रेय **चीन के साई लुन** को जाता है जिसने ईसा के बाद 105 वृक्षों की कुटी हुई छाल से पुराने कपड़े और पुरानी मछली के जालों के मिश्रण से कागज़ बनाया। **कागज़ के इस आविष्कार ने निस्संदेह समाज में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए पर मुद्रण के आविष्कार ने समाज को क्रांतिकारी ढंग से बदल डाला।** इसी सदी में सांचों से मुद्रण का आविष्कार हुआ। साम्राज्ञी शोटीकु की आज्ञा से दस लाख प्रार्थना पत्रक छापे गए। इस योजना को पूरा करने में छः वर्ष लगे। दरअसल ज्ञान को सर्वजन सुलभ बनाने की प्रक्रिया यहीं से आरम्भ हुई। बाद में चल-टाइप के आविष्कार ने मुद्रण को नया स्वरूप दिया। इसका श्रेय जर्मनी के गुटेनबर्ग को जाता है। जिसने संभवतः सन् 1400 और 1468 के बीच चल-टाइप का आविष्कार कर ‘गुटेनबर्ग-बाईबल’ छापकर एक महत्वपूर्ण काम किया। इसे कुछ विद्वान दुनिया की पहली छपी हुई पुस्तक भी मानते हैं।

मुद्रण के इस आविष्कार से विश्व में ‘छापेखाने’ की संस्कृति की शुरुआत हुई। बड़े पैमाने पर विश्व में पुस्तकें, समाचारपत्र-पत्रिकाएँ, आवेदनपत्र, निमंत्रणपत्र, ग्रीटिंग कार्ड्स आदि छपने शुरू हुए। छापे की इस संस्कृति ने लोगों की जीवन-शैली को बदल डाला। अब अखबार पढ़ना लोगों की दिनचर्या का अंग हो गया। जिससे समाज में जागरूकता बढ़ी और राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक परिवर्तन की पृष्ठभूमि तैयार हुई। **यहाँ तक की मार्शल मैक्लुहान मानते हैं कि पश्चिम में इन अखबारों ने प्रजातंत्र की स्थापना में महत्वपूर्ण योगदान दिया।**

विज्ञापन की शुरुआत भी प्रिन्ट के आने के बाद ही हुई। **व्यापार-व्यवसाय को प्रोत्साहन देने, उत्पादों को घर-घर पहुंचाने में प्रिन्ट विज्ञापनों की अहम भूमिका है। साहित्य की विधाओं, रूपों में भी परिवर्तन आया यथा कविता में तुक या लय की अनिवार्यता नहीं रही।** लेकिन यह भी एक बड़ा सच है कि समाज साक्षर और असाक्षर दो वर्गों में बंट गया जिनकी अवकाश का समय बिताने, जीवन यापन करने आदि की शैलियाँ भिन्न-भिन्न हो गईं।

प्रिंट संस्कृत के इस विस्तार से मौखिक संस्कृति का श्रोता धीरे-धीरे पाठक में रूपान्तरित हो गया। समाज में लेखक और पाठक का नया संबंध बना। साहित्य का अब अकेले में बैठकर आस्वाद लिया जा सकता था, जिससे सामुदायिक श्रवण की जगह एकान्तिक संस्कृति का उदय हुआ। इसलिए कुछ विचारकों का मानना है कि व्यक्तिवाद के उदय में भी प्रिंट संस्कृति की महत्वपूर्ण भूमिका है।

अपनी प्रकृति के अनुरूप मुद्रण ने एक तरफ ज्ञान के स्थायित्व की संभावनाएँ बढ़ाई तो दूसरी तरफ ज्ञान पर चंद लोगों के वर्चस्व को चुनौती दे ज्ञान को सर्वजन सुलभ बनाने की प्रक्रिया प्रारम्भ की। क्योंकि अभी तक आश्रमों और पाठशालाओं में हाथ से लिखी पोथियों का उपयोग होता था। अपनी सीमित संख्या में होने के कारण ये पुस्तकें विस्मय और श्रद्धा की मिली-जुली भावना को जन्म देती थीं। मुद्रण से यह पुस्तकें सहज ही उपलब्ध होने लगीं। इससे उनकी पूजनीय स्थिति समाप्त हुई और ज्ञान के एक वैकल्पिक माध्यम के रूप में ये विकसित हुईं। इस प्रक्रिया में पुरानी पुस्तकों का फिर से मूल्यांकन भी प्रारम्भ हुआ। इस मूल्यांकन विश्लेषण की खासियत थी कि यह किसी भी धार्मिक सत्ता द्वारा नियंत्रित नहीं है। इस परिदृश्य में यदि मुद्रण की इस क्रान्ति को विचारों की क्रांति कहा जाए तो गलत न होगा।

प्रिन्ट तकनीक के आगमन से जहाँ समाज के सांस्कृतिक रूपों में क्रांतिकारी परिवर्तन परिलक्षित हुए वहीं एक नई प्रकार की संस्कृति भी पनपी जिसे आज संचार माध्यमों की संस्कृति कहा जाता है। इस नई संस्कृति में किताब जैसे सांस्कृतिक रूप-सांस्कृतिक उत्पाद में और संस्कृति जनसंचार की संस्कृति में रूपान्तरित होने लगी। क्योंकि अब मुद्रण के द्वारा मूल पुस्तक को क्षति पहुंचाएँ बिना उसकी हजारों प्रतियाँ बनाई जा सकती हैं। इस प्रक्रिया को कुछ सालों बाद किसी और स्थान पर फिर से भी दोहराया जा सकता है। यानि एक ही किताब का उत्पादन नहीं बल्कि पुनरुत्पादन भी मुद्रण ने संभव बना दिया। इस प्रकार सांस्कृतिक रूप अब खरीदे व बेचे जा सकते थे। खरीदने व बेचने की इस प्रक्रिया ने संस्कृति को एक उत्पाद में बदल दिया। एडनों के शब्दों में कहें तो 'संस्कृति उद्योग' का दर्जा पा गई।

भारत में प्रिंट संस्कृति

मुद्रण तकनीक के आने के बाद जन-संवाद के जिन दो महत्वपूर्ण माध्यमों का उदय हुआ वह थे—'पुस्तक' और 'समाचारपत्र'। यूरोप में भले ही गुटनबर्ग ने 1400 से 1468 के बीच मुद्रण का प्रचार-प्रसार किया हो पर भारत में मुद्रण तकनीक का उदय पहले-पहल अंग्रेजों द्वारा 1550 और 1557 के बीच हुआ। जब वह भारत में ईसाई धर्म का प्रचार व प्रसार करने के लिए दो मशीनें लाए। इसके बाद तिन्नेलवल्ली जिले के पुन्नीकेल नामक स्थान पर सन् 1578 में पहला और उसके सौ बरस बाद यानि 1678 में त्रिचुर के दक्षिण में अंबलकाद में दूसरा प्रेस स्थापित किया गया। इन दोनों ही जगहों से पहले-पहल धार्मिक पुस्तकों का प्रकाशन हुआ। इससे यह बात साफ हो जाती है कि यूरोप में जिस प्रेस तकनीक के उदय ने सामंती व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर चर्च के वर्चस्व को चुनौती दी, औद्योगिक समाज की नींव रखी वहीं भारत में इस प्रिंटिंग तकनीक का उपयोग अंग्रेजों ने सांस्कृतिक उपनिवेशवाद के विस्तार के लिए किया। यानि अंग्रेजों ने भारत को राजनीतिक उपनिवेश बनाने से पहले सांस्कृतिक उपनिवेश बनाया।

मुद्रण तकनीक में पुस्तक प्रकाशन के साथ जिस दूसरे जन-संवाद माध्यम का उदय हुआ वह था—समाचारपत्र। भारत में समाचारपत्रों और पत्रिकाओं के प्रकाशन का श्रेय भी अंग्रेजों को जाता है। 1780 में जेम्स आगस्ट हिक्की ने 'बंगाल गजट' और 'कैलकटा जनरल एडवर्टाइजर' का प्रकाशन किया। इन पत्रों का मूल उद्देश्य कम्पनी के कर्मचारियों के निजी जीवन व कम्पनी से उनकी शिकायतों को प्रकाशित करना था। हालांकि इन पत्रों का उद्देश्य कहीं भारतीय जनमानस को जागृत करना या शिक्षित करना नहीं था लेकिन फिर भी इससे अप्रत्यक्ष रूप से एक नए सूचना-समाज के युग में तो भारत ने कदम रखा। परिणाम स्वरूप भारतीय सम्पादकों ने भी पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित कर सामाजिक-सुधार, शिक्षा, सामंती रूढ़ियों को चुनौती, राष्ट्रीय चेतना के निर्माण में अहम भूमिका निभाई और अंग्रेजों के सांस्कृतिक राजनीतिक उपनिवेशीकरण के अभियान को धीमा किया। "संवाद कौमुदी (बंगला-1821), बंगदूत (हिन्दी 1829), मिरात-उल-अखबार (फारसी 1822), गुजराती में बांबे समाचार, जामें जमशेद (1831), रस्त गौफ्तार (1851), अखबारे सौदागर, सोमप्रकाश (1858) केसरी, जुगांतर, बंदेमातरम बंगला में, हिन्दी में उदन्तमार्त्तण्ड (1826), समाचार सुधावर्षण। (1854), बनारस अखबार (1849), सुधाकर, मालवा अखबार,

बुद्धिप्रकाश, ज्ञान दीपक, कविवचन सुधा, हरिशचंद्र मैगजीन, चंद्रिका, हिन्दी प्रदीप, ब्राह्मण, सार-सुधानिधि, भारत मित्र आदि प्रमुख पत्र-पत्रिकाएँ थीं।

सहायक पुस्तकें

- ❖ प्रो. श्यामाचरण दूबे – परम्परा इतिहास-बोध और संस्कृति
- ❖ जवरीमल्ल पारिख – जनसंचार माध्यमों का वैचारिक परिप्रेक्ष्य
- ❖ देवेन्द्र इस्सर – जनमाध्यम : सम्प्रेषण और विकास

अभ्यास के लिए प्रश्न

1. 'संचार' से आप क्या अर्थ ग्रहण करते हैं। प्रिंट पूर्व संचार की स्थिति का परिचय दीजिए।
2. प्रिंट संस्कृति ने भारत को कैसे सूचना-समाज के रूप में संगठित किया।
3. 'संचार' और 'जनसंचार' का अर्थ स्पष्ट करते हुए इस क्षेत्र में समाचारपत्र की भूमिका का विवेचन कीजिए।

(ii) रेडियो, टीवी, सिनेमा : दृश्य-श्रव्य संस्कृति

मौखिक संस्कृति मुख्य रूप से स्मरण पर और प्रिंट संस्कृति अक्षर ज्ञान की योग्यता पर आधारित होने के कारण सबके लिए उपलब्ध नहीं थी। पर इलैक्ट्रॉनिक माध्यम इन दोनों की यानी मौखिक और प्रिंट की क्षमताओं को अपने भीतर समेटते हुए सूचना व ज्ञान के बहुआयामी रूपों को प्रकट करते हुए दृश्य-श्रव्य की एक नई संस्कृति विकसित करते हैं। प्रिंट संस्कृति ने सूचना व ज्ञान के सार्वजनिक वितरण की जिस लोकतांत्रिक प्रक्रिया को प्रारंभ किया ये नए इलैक्ट्रॉनिक माध्यम उसको और अधिक विकसित ही करते हैं। ध्यान देने की बात है कि रेडियो, टीवी से भी पहले इलैक्ट्रॉनिक संस्कृति का उदय 'टेलीग्राफ' के आविष्कार के साथ हो गया था।

'टेलीग्राफ' के आविष्कार ने समय व स्थान की अवधारणा और भाषा की प्रकृति को बदला। पहले संदेश भेजने के लिए व्यक्ति का होना आवश्यक था। संदेश चाहे रेल से भेजा जाए अथवा सड़क, परिवहन या किसी भी अन्य माध्यम से। किसी-न-किसी संदेशवाहक व्यक्ति का होना अति आवश्यक था। (1) परन्तु 'टेलीग्राफ' ने व्यक्ति और परिवहन दोनों पर संदेश की निर्भरता को समाप्त कर संदेश को भौगोलिक सीमाओं से मुक्त कर दिया। (2) इसके साथ ही एक नई तकनीकी भाषा का भी उदय हुआ। ऐसी मानकीकृत तकनीकी भाषा जिसका इस्तेमाल सभी लोग एक साथ कर सकते थे। यानि 'टेलीग्राफ' ने स्थानीय, क्षेत्रीय भाषा के रूपों की विदाई कर भाषा के मानकीकरण की प्रक्रिया आरम्भ कर दी।

'टेलीग्राफ' के आने से एक बड़ा परिवर्तन संचार की अवधारणा में भी आया। अब 'परिवहन' यानि यातायात के साधनों और 'सम्प्रेषण' में अंतर किया जाने लगा। संचार, क्रांति के महत्वपूर्ण विद्वान 'रेमंड विलियम्स' ने स्पष्ट कहा है कि "यातायात के भौतिक साधनों का उल्लेख करने के लिए 'यातायात' शब्द अधिक उपयुक्त है। जबकि संचार माध्यमों से उनका आशय उन संस्थाओं और प्रारूपों से है, जिसमें विचारों, सूचनाओं और मनोभावों को प्रसारित तथा ग्रहण किया जाता है। इस रूप में जन-संचार से उनका तात्पर्य प्रसारण और ग्रहण करने की प्रक्रिया से है।

रेडियो :

'टेलीग्राफ' के पश्चात 'रेडियो' और 'टेलीविज़न' का आविष्कार हुआ। 'सिनेमा' का उदय टेलीविज़न से पहले ही हो चुका था। इन तीनों ही माध्यमों के आगमन से विश्व में एक नई संस्कृति का विकास हुआ जिसे आज हम दृश्य-श्रव्य संस्कृति कहते हैं। वाचिक संस्कृति का 'श्रोता' इस नए दृश्य-श्रव्य माध्यम के द्वारा पुनः केन्द्र में आ गया। पर यह श्रोता 'फेस-टू-फेस' कम्प्यूनिकेशन वाला श्रोता नहीं था बल्कि (1) यह इलेक्ट्रॉनिक मीडिया का वो दर्शक (ऑडिएंस) था जो एक जगह या एक स्थान पर मौजूद न होकर भी जन-संचार माध्यमों को

प्रभावित करने की क्षमता रखता था और संचार माध्यम उसको प्रभावित करते थे। (2) यह दर्शक पढ़ा लिखा भी था और अनपढ़ भी क्योंकि दृश्य-श्रव्य माध्यम में अक्षर ज्ञान के अभाव में भी सूचनाओं का आदान-प्रदान, सहजता से किया जा सकता था। भारत में सन् 1924 में शौकिया क्लब के रूप में शुरू हुए रेडियो ने विभिन्न क्षेत्रीय संस्कृतियों तथा साहित्यिक धरोहरों को एक-दूसरे के निकट लाने कि चेष्टा की। लोक संस्कृति को देहाती कार्यक्रमों में शामिल किया। कृषि स्वास्थ्य, परिवार कल्याण, शिक्षा आदि के कार्यक्रमों को प्रमुखता दी गई। लेकिन यह सच है आवाज़ पर आधारित होने के कारण कि रेडियो एक सीमा तक ही लोगों से जुड़ सकता था। इसके विपरीत टी.वी. व सिनेमा दृश्य के साथ रेडियो की विशेषताओं को भी अपने में शामिल किए हुए थे। इसलिए अपने आगमन के साथ ही जल्द लोकप्रिय हो गए। यह अलग बात है कि शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि जैसे कार्यक्रम दृश्य-श्रव्य माध्यम में धीरे-धीरे हाशिये पर जाने लगे और यह माध्यम सिर्फ मनोरंजन माध्यम के रूप में स्थापित होने लगा।

इन इलैक्ट्रॉनिक माध्यमों ने अपनी तात्कालिक प्रकृति के अनुरूप सूचना व संदेश को गति व विस्तार देकर देशकाल की अवधारणा को संकुचित कर दिया। क्योंकि वायु-तरंगों द्वारा प्रेषित संदेश तीव्र गति से बहुत दूर तक पहुंचाया जा सकता था। इस संदेश की खासियत थी कि यह भेजने वालों तक ही सीमित नहीं रहता था। बल्कि जिनके लिए नहीं भी होता था उनको भी प्राप्त हो जाता था। इस तरह सूचना पर नियंत्रण कर पाना कठिन हो गया। संदेश राष्ट्रों की चौहदियों को पार करके पूरे विश्व में एक साथ सम्प्रेषित होने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि, विश्व 'ग्लोबल विलेज' में रूपान्तरित हो गया।

टीवी और सिनेमा :

टीवी व सिनेमा मूलतः दृश्य केन्द्रित प्रविधि है। इसलिए यह अमूर्त भाव या विचार को भी दृश्य यानि बिम्ब में बदल देती है। इसलिए इस प्रविधि में हर कला-रूप पुराने अर्थ को अपदस्थ करके एक नया अर्थ-रूप ग्रहण करता है। इस दृश्य माध्यम में कथा कहने की बजाए कथा दिखाने वाली शैलियाँ विकसित हुईं। जैसे 'सीरियल' (धारावाहिक) या 'सोप ऑपेरा'। जिसे दर्शक घर बैठे देख सकता था। इसलिए यह भी कहा गया कि इलैक्ट्रॉनिक संस्कृति में कल्चर तो ग्लोबल हो गया पर व्यक्ति अधिक निजत्व केन्द्रित हो गए। अब वे नाटक देखने थियेटर नहीं जाते बल्कि घर बैठे ही 'सीरियल' या 'सोप ऑपेरा' देखते हैं पर इस दृश्य-श्रव्य कि प्रविधि आ जाने के बाद सम्प्रेषण के प्राचीन माध्यम और सभी पुरानी कलाएं समाप्त नहीं हो गईं।

सच बात तो यह है कि बल्कि जनसंचार माध्यमों ने कलाओं पर मध्यकालीन दरबारी या आभिजात्य समाज के एकाधिकार को चुनौती दे उन्हें सर्वसाधारण के लिए सुलभ बनाकर उनका विस्तार भी किया। चूंकि इन माध्यमों में पुनरुत्पादन की क्षमता भी निहित है इसलिए उच्च कलाएँ सस्ते में लोगों तक पहुंच सकीं जिससे सुसंस्कृत कहलाने वाले व्यक्तियों का दायरा बढ़ा। इस प्रक्रिया में प्राचीन सांस्कृतिक रूपों के साथ जो पवित्रता आदि के भाव जुड़े रहते, वह भी टूटते हैं। जिनके कारण वह किसी विशेष वर्ग के लिए तो पूजनीय हो जाते हैं, परन्तु दूसरे वर्ग विशेष के लिए उन्हें पढ़ना तो दूर छूना भी वर्जनीय हो जाता है। ये इलैक्ट्रॉनिक माध्यम पूजनीयता और पवित्रता के भाव को तोड़कर सांस्कृतिक रूपों को सर्वजन सुलभ व लोकप्रिय बनाते हैं। बहुत से धार्मिक ग्रंथ इसी दृश्य माध्यम में आकर उन लोगों में सुलभ और लोकप्रिय हुए जिनके लिए वर्जित माने जाते थे।

सभ्यता के विकास के साथ विकसित संचार पहले से मौजूद संचार प्रणालियों को हमेशा अपदस्थ ही नहीं करता बल्कि उनको अपने में मिलाकर विकसित भी करता है। जैसे टीवी में प्रिंट, चित्रकला, फिल्म आदि माध्यमों का सम्मिश्रण देखा जा सकता है। इसे इंटरनेट आदि के सन्दर्भ में भी देखा जा सकता है। 'देवदास' या 'तमस' जैसी किताबें टीवी माध्यम में ढलने के बाद समाप्त नहीं हुईं बल्कि अधिक बिकने भी लगी और इंटरनेट के आने के बाद तो सुरक्षित व विभिन्न ब्लॉगों में सहजता से उपलब्ध भी होने लगीं।

मार्शल मैक्लुहान जब "गर्म व ठंडे" माध्यम की बात करते हैं तो वे भी यही मानते हैं कि जनसंचार माध्यम पुराने माध्यम को हमेशा नष्ट ही नहीं करता उसको आत्मसात करते हुए बदलता भी है। कुछ इसी तरह की बात प्रिंट पत्रकारिता के बारे में भी की गई पर आज भी मुद्रित पत्रकारिता अपनी विश्वसनीयता बनाए हुए है। क्योंकि

दृश्य-श्रव्य माध्यम की प्रकृति के अनुरूप सूचना-समाचार क्षणिक होते हैं पर उन्हें विस्तार अखबार यानि मुद्रित माध्यम ही देता है। अखबार में छपी सूचना को हम आज भी पढ़ सकते हैं और एक दिन के बाद भी।

‘लोकप्रियता’ दृश्य-श्रव्य माध्यमों में एक नया तत्त्व है जो इन माध्यमों से प्रसारित होने वाली सामग्री का निर्धारक होता है। यहाँ वही दिखाया जाता है जो ‘बॉक्स ऑफिस’ पर हिट होने की योग्यता रखता है। क्योंकि प्रोग्राम या कृति की सराहना का पैमाना इस ‘लोकप्रियता’ के बाजार में मौलिकता नहीं बल्कि बाजार की ‘माँग व पूर्ति’ हो जाती है। लेकिन सवाल यह है कि लोकप्रियता का पैमाना तय कौन करता है? मीडिया ही, इसलिए इस बाजार की माँग के नाम पर निम्न कोटि के अश्लील और कुरुचिपूर्ण कार्यक्रम बनने लगे जिसमें स्त्रियों को कमोडिटी के रूप में प्रस्तुत किया गया। आज भी चौबीस घंटे के टेलिविजन चैनलों में अपनी ‘टी आर पी’ बढ़ाने की होड़ में कई सनसनीखेज, अंधविश्वासपूर्ण और कुरुचिपूर्ण कार्यक्रमों को तरजीह दी जाती है।

इस जनसंचार की संस्कृति में वह ‘जन’ जिसके लिए ‘जगदीशचन्द्र माथुर’ ने अपनी किताब ‘बहुजन-सम्प्रेषण के माध्यम’ में ‘अल्पजन’ शब्द का प्रयोग किया है और जिसे इस लोकप्रियता से इतर कार्यक्रमों की दरकार होती है। सवाल है? उसकी रुचि कहाँ ठहरती है। साफ है इस लोकप्रियता के पैमाने में ‘अल्पजन’ की रुचि की उपेक्षा की जाती है उसे महत्व नहीं दिया जाता है। जैसे शास्त्रीय संगीत, नाटक, रासलीला आदि कार्यक्रमों को यह कहकर प्रसारित नहीं किया जाता है कि यह आम जन की रुचि या बड़े पैमाने के लोगों की यानि mass audiences की रुचि नहीं है या लोकप्रिय नहीं है। परिणाम स्वरूप ये कार्यक्रम मात्र वृत्तचित्रों की शोभा बनाने तक ही सीमित होकर रह जाते हैं।

हमारे देश में रेडियो पर ‘विविध भारती’ के प्रोग्राम की स्थापना के बाद राष्ट्रीय प्रोग्रामों को सुनने में कमी होती चली गई और कहा गया कि इन कार्यक्रमों को बंद कर देना चाहिए। क्योंकि इसे सुनने वालों की संख्या अत्यन्त सीमित है। यह कार्यक्रम लोकप्रिय नहीं है। भले ही, यह कार्यक्रम बड़ी तादाद में लोग न सुनते हों पर कुछ लोग तो सुनते ही हैं। पर लोकप्रियता का पैमाना देकर अल्परुचि वाले दर्शकों की रुचि हाशिये पर डाल दी गई। अपनी इस प्रकृति में ये इलैक्ट्रॉनिक माध्यम समाज को ‘बहुजन और अभिजन’ के बीच बांट देते हैं।

जनसंचार माध्यमों की आलोचना करते हुए प्रायः यह कहा जाता है कि इन जनसंचार माध्यमों के बहुव्यापी होने के कारण पूरे विश्व में प्रायः एक जैसी शैली के कार्यक्रमों का विस्तार होना शुरू हो जाता है। परिणामतः संस्कृति के क्षेत्रीय रूपों की विदाई हो जाती है जिसके कारण व्यक्तियों की जीवन-शैली, खान-पान, रहन-सहन, विचार और परम्पराएँ सब में एक प्रकार की निराली समरूपता या एकरूपता उत्पन्न हो जाती है और सांस्कृतिक विविधता, जो किसी भी देश की पहचान होती है वह समाप्त हो जाती है। एक प्रकार के गाने, एक प्रकार की फिल्में, एक प्रकार पहनावा प्रचलित हो जाता है।

हालाँकि कभी-कभी इसके ठीक विपरीत इन माध्यमों की बदौलत संस्कृति का दायरा बढ़ता भी है यानि संस्कृति अपनी सीमाओं को विस्तृत भी करती है जैसे गुजरात का गरबा दिल्ली में, भगवती जागरण बिहार में और जन्माष्टमी की दही हाँडी पूरे भारत में फूटने लगती हैं। ये अलग बात है कि यह माध्यम उसी दृश्य को अपने कैमरे में कैद करते हैं जिनके बारे में इन्हें लगता है कि उनके लिए ‘टी आर पी’ का जुगाड़ कर सकते हैं।

यह ठीक है कि दृश्य-श्रव्य माध्यम में सूचनाएँ तत्काल लोगों तक पहुँच जाती हैं। एक स्थान पर एक साथ सूचनाओं का पहुँचना महत्त्वपूर्ण उपलब्धि तो है पर सूचनाएँ लोगों को ज्ञानवान भी बनाएँगी इस बात की कोई गारंटी नहीं। क्योंकि इन माध्यमों की अपनी सीमाएँ हैं। हर क्षण दृश्य बदलता रहता है। इसलिए दर्शकों को सोचने का अधिक अवसर नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में दर्शक या श्रोता मात्र सूचनाएँ प्राप्त करता है और तत्काल प्राप्त सूचनाएँ तत्काल ही समाप्त हो जाती हैं। जिससे विचार प्रक्रिया जड़ीभूत हो जाती है। जगदीशचन्द्र माथुर के शब्दों में कहें तो—वह परिवेश जिसमें स्वयं सोचना, अनुभव का इस्तेमाल करना समाप्त हो जाता है। पूरा नर्वस सिस्टम माध्यम के हवाले कर दिया जाता है। सामाजिक व्यवहार बदल जाता है, क्षणिक आनंद ही मुख्य लक्ष्य

हो जाता है। तुरंत-फुरंत सर्वेक्षणों से नतीजे निकालकर सिद्धांत बना हेडलाइन को हिट करने की प्रवृत्ति इनका लक्ष्य बन जाती है।

सहायक पुस्तकें

❖ प्रो. श्यामाचरण दूबे	— परम्परा इतिहास-बोध और संस्कृति
❖ जवरीमल्ल पारिख	— जन-संचार माध्यमों का वैचारिक परिप्रेक्ष्य
❖ देवेन्द्र इस्सर	— जनमाध्यम : सम्प्रेषण और विकास

अभ्यास के लिए प्रश्न

1. संचार से आप क्या अर्थ समझते हैं। इलैक्ट्रॉनिक माध्यमों की विशेषताएँ बताइएँ।
2. दृश्य-श्रव्य माध्यम सामाजिक-सांस्कृतिक बदलाव के महत्वपूर्ण साधन हैं। क्या आप इससे सहमत हैं? उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए।
3. 'प्रिंट संचार माध्यम' और 'दृश्य-श्रव्य संचार माध्यम' की उपलब्धि और सीमाओं का विवेचन कीजिए।
4. जनसंचार के क्षेत्र में टी.वी. और सिनेमा के योगदान का वर्णन कीजिए।
5. जनसंचार में रेडियो की शक्ति पर एक टिप्पणी लिखिए।

(iii) विज्ञापन और संस्कृति

उत्पाद, उत्पादक, विक्रेता और उपभोक्ता के योग से बाजार का निर्माण होता है। आधुनिक समय में बाजार ने बहुत जटिल रूप धारण कर लिया है। मुक्त प्रतियोगिता एवं उदारीकरण की नीतियों से निर्धारित बाजार की प्रक्रियाएँ बहुत जटिल हो चुकी हैं। इनमें **विज्ञापन का स्थान केन्द्रीय महत्व का हो गया है।** विभिन्न संचार माध्यमों के विकास के चलते अब यह आवश्यक नहीं है कि **उपभोक्ता, विक्रेता और उत्पाद** एक ही स्थान पर मौजूद मिले इसलिए **विज्ञापन के द्वारा उत्पाद के विषय में जानकारी को प्रचारित किया जाता है। जिससे कि उपभोक्ता खरीदने के लिए प्रेरित हो सके। पर जैसे-जैसे बाजार का विकास और उत्पादों का बाजार बढ़ता गया विज्ञापन एक शक्तिशाली संस्था बनता गया।** परिणामस्वरूप विज्ञापन अर्थतंत्र की एक आवश्यक प्रक्रिया मात्र ही नहीं रह गया, जिसके द्वारा संभाव्य उपभोक्ता को वस्तु या उत्पाद के बारे में सूचना दी जा सके **बल्कि आज वह एक ऐसा दबाव बन गया है जो समाज की मानसिकता को गहराई तक प्रभावित करके जीवन-विधि को संचालित करने लगा है।**

विज्ञापन का शाब्दिक अर्थ है—विशेष रूप से ज्ञात करना अथवा जानकारी देना। हिन्दी में यह अंग्रेजी शब्द 'एडवर्टाइजमेंट' का अनुवाद है। जिसका अर्थ है 'टर्न टु' अथवा किसी की तरफ मुड़ना या आकर्षित करना। कहा जा सकता है कि **किसी वस्तु या उत्पाद की तरफ लोगों का ध्यान आकर्षित करना, ताकि वस्तु की बिक्री में वृद्धि की जा सके, विज्ञापन कहलाता है।**

अमेरिकन मार्केटिंग एसोसिएशन के अनुसार "विज्ञापन का अर्थ परिचय प्राप्त प्रायोजक द्वारा वस्तु, विचारों के गैर व्यक्तिगत प्रस्तुतीकरण या प्रवर्तन के ढंग से है, जिसमें भुगतान किया जाता है।"

सी.एस. बोलिंग के अनुसार "विज्ञापन वस्तु एवं सेवा की माँग करने की कला को कहते हैं यानि विज्ञापन एक ऐसी कला है जो वस्तु या सेवा की उपयोगिता का जनता पर प्रभाव डालने से संबंध रखती है।"

विज्ञापन कला का विकास और उपयोगिता

विज्ञापन कला का विकास पहले-पहल यूरोप में हुआ और 1880 के आस-पास **ब्रांड** की अवधारणा अमेरिका में पनपी। (ब्रांड यानि बहुत से उत्पादों के मध्य पहचान के लिए प्रयुक्त नाम या चिह्न) ऐसा माना जाता है कि यदि ब्रांड न होते तो विज्ञापन भी न होते क्योंकि आज के विज्ञापन वस्तु नहीं ब्रांड बेचते हैं। दूसरे विश्व युद्ध के बाद अमेरिका

में उपभोक्तावाद का व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ। क्योंकि उस समय अत्यधिक मात्रा में उत्पन्न उत्पादों से वहां मंदी का दौर आया तब अमेरिका के उच्च व्यापारी वर्ग ने सोचा कि यदि उच्च उत्पादन स्तर को बनाए और बचाए रखना है तो उपभोग के वातावरण पर बल देना होगा। ताकि उद्योग चल सके और मंदी का दौर फिर से न बन पाए। **एक प्रकार से यहीं से विश्व में उपभोक्तावाद की शुरुआत हुई।**

भारत में पहला विज्ञापन आज से हजारों साल पहले भारतीय व्यापारियों के : 'रेशमी वस्त्र बुनकर संघ' द्वारा कुमार गुप्त कालीन एक सूर्य मन्दिर में लगवाया गया था, कुछ लोग इसे **विश्व का पहला विज्ञापन** भी मानते हैं। पर जिसे हम आधुनिक अर्थों में विज्ञापन कहते हैं उसकी शुरुआत भारत में प्रिंट मीडिया से हुई। **प्रिंट में इसकी शुरुआत दो अंग्रेजी कम्पनियों 'जे वाल्टर टामसन' तथा 'डी जे कीमर' ने की। इनमें से पहली कम्पनी को आज हिन्दुस्तान लीवर के नाम से जाना जाता है।**

पाँचवें दशक में पहली भारतीय कम्पनी दत्ताराम, नेशनल एंड सिस्टाज मुम्बई में शुरू हुई। 1930-40 के दशक तक पहुँचते-पहुँचते प्रिंट के साथ रेडियो और सिनेमा हॉल में भी दो से तीन मिनट के विज्ञापन दिखाए जाने लगे। पर 1982 में भारत में रंगीन टी.वी. आने के बाद विज्ञापन के क्षेत्र में एक बड़ा परिवर्तन हुआ। बहुत-सी उपभोक्ता वस्तुएँ नई चमक-दमक के साथ प्रसारित व प्रचारित की जाने लगीं। **यही वह समय था जब मुक्त प्रतियोगिता या फ्री मार्केट का कॉन्सेप्ट भी भारत में नया-नया शुरू हो रहा था।** जिसके कारण न जाने कितने ही उत्पाद बाजार में दिखने लग गए। कम्पनियों ने विज्ञापन पर अपने बजट बढ़ा दिए। परिणामस्वरूप पूरे जोरशोर से अमेरिकी व्यापारियों द्वारा 'उपभोग के वातावरण को बढ़ावा देने का' फार्मूला भारत में लागू होने लगा।

अपने फार्मूले की सफलता के लिए विज्ञापनों से बेहतर और कोई माध्यम नहीं था। एक तरह से भारत ने भी उपभोक्तावादी युग में कदम रख दिया। प्रो. सुधीश पचौरी ने ठीक ही लिखा है कि—**"रंगीन टीवी में आकर सामान्य उपभोक्ता वस्तुएँ भी रंगीन हो गईं। विज्ञापन जिनका उद्देश्य वस्तुओं की सूचना देना था वह उपभोक्ता को आकर्षण के ऐसे समाज में ले गया जहाँ कामनाओं और लालसाओं ने उपभोक्तावाद को जन्म दिया।"**

उपभोग तो एक सहज मानवीय क्रिया थी जबकि उपभोक्तावाद एक नया तत्व था जिसमें पहुँच प्रेमचन्द्र की कहानी ईदगाह का हामिद पराजित हो जाता है। **क्योंकि इस उपभोक्तावादी संस्कृति में वस्तुएँ जरूरत से नहीं आकर्षण से खरीदी जाती हैं। विज्ञापन इस उपभोक्तावाद के सबसे बड़े प्रचारक हैं। इन विज्ञापनों के द्वारा जो जीवन-शैली रची जाती है वह एक ऐसे मायालोक के इर्द-गिर्द विचरण करती है। जिसमें किसी एक उत्पाद की अनुशंसा करने के बजाए ऐसे माया लोक का सृजन किया जाता है जो सभी विज्ञापनदाताओं के हित में होता है। इसीलिए 'रेमण्ड विलियम्स' इसे एक दोगली कला मानते हैं।**

विज्ञापन के इस रंगीन मायाजाल का असर धीरे-धीरे पूरे समाज पर भी पड़ा। **इस विज्ञापन जगत ने तात्कालिकता का ऐसा संसार रचा जिसमें 'यूज और थ्रो का सिद्धान्त पनपा।** इस सिद्धान्त के तहत हमारे सांस्कृतिक, सामाजिक चिन्ह अपदस्थ होने लगे। घर से बने थैलों की जगह पौलीथीन का इस्तेमाल बढ़ा जो एक बार के पश्चात इस्तेमाल के योग्य नहीं रह जाते हैं। **इस तरह की मानसिकता ने हमारे सम्बन्धों का शास्त्र भी बदल दिया। भावात्मक सम्बन्ध वस्तुओं से निर्धारित होने लगे। 'जॉन्सन बेबी लोशन' ममता का प्रतीक बन गया और 'प्रेस्टीज कुकर' बीबी से प्रेम का आधार बन गया क्योंकि "जो बीबी से करे प्यार वो प्रेस्टीज से कैसे करे इन्कार"** ऐसे विज्ञापन उपभोग्य वस्तुओं को प्रेम के स्थानापन्न की तरह प्रस्तुत करते हैं।

सुधीश पचौरी ठीक ही लिखते हैं कि **"वस्तुओं ने हमारे मानसिक जगत व उसके साथ हमारे सम्बन्धों को बदल दिया। अब उपभोग हमारी जीवन-शैली का आधार बन गया। साज-सिंगार, मर्दानगी, स्त्रियों की सेक्स अपील, एक नया सांस्कृतिक संसार बना। जिसने एक नई जन-संस्कृति को जन्म दिया जहाँ हिंसा, अत्याचार, व लालसाएँ हैं"**

समीक्षा

विज्ञापनों द्वारा निर्मित इस नई संस्कृति में सांस्कृतिक वैविध्य के लिए कोई स्थान नहीं है। क्योंकि विज्ञापन के रूप में जो सांस्कृतिक विविधताएँ आती भी हैं तो वे सांस्कृतिक मूल्य के रूप में नहीं बल्कि उत्पाद

खरीदने-बेचने की वस्तु के रूप में। जिस रूप में उनका सांस्कृतिक महत्त्व तो नहीं ही रहता है, उसकी विविधता भी नहीं रहती। इसी कारण विज्ञापनों में स्त्री की छवि भी अधिकांशतः उस उत्पाद के रूप में प्रस्तुत करने योग्य बनाई जाती है। यद्यपि कुछ विज्ञापनों में स्त्री की छवि एक क्षमता-सम्पन्न, जागरूक और कर्मठ व्यक्ति की भी बनती हैं पर अनुपात की दृष्टि से यह छवि अत्यन्त न्यून है। अधिकतर स्त्री को मात्र शारीरिक सुंदरता और घरेलू कामकाज तक सीमित किया जाता है। जैसे अधिकांश 'क्रीम' के विज्ञापनों में गोरा रंग स्त्री की सुंदरता का उसके कॉन्फीडेन्स का प्रतीक बन जाता है, न कि उसका अपनी क्षमताएँ या उसका व्यक्तित्व। कई वस्तुओं के सेक्स केन्द्रित विज्ञापन होते हैं जिसमें स्त्री की छवि को नीचा दिखाया जाता है। सौंदर्य-प्रसाधनों के विज्ञापन स्त्रियों की एक काल्पनिक छवि गढ़कर उसका जीवन-उद्देश्य मात्र सुंदर या गोरे होने में सीमित कर दिया जाता है। सबसे बढ़कर पुरुष और स्त्रियों के ऐसे स्टीरियो टाइप गढ़े जाते हैं जो स्त्री की छवि को उत्पाद के रूप में प्रस्तुत करते हैं—कई बार ऐसा पुरुष की छवियों के संदर्भ में भी होता है। **क्योंकि विज्ञापन कला ने वास्तविकता और आभास की दुनिया के अन्तर को मिटाकर, वस्तुओं के उपभोग को ऐसी अवस्था में पहुँचा दिया है जहाँ छवि ही वास्तविक बनकर मनुष्य को नियन्त्रित करने लगी है। इसीलिए प्रो. पूरनचंद जोशी इसे एक नई तरह का साम्राज्यवाद मानते हैं जो सैन्य ताकत या आर्थिक वर्चस्व से ज्यादा खतरनाक व सस्ता है।**

सहायक पुस्तकें

- ❖ देवेन्द्र इस्सर —जनमाध्यम : सम्प्रेषण और विकास
- ❖ प्रो. सुधीश पचौरी —ब्रेक के बाद

अभ्यास के लिए प्रश्न

1. उपभोक्ता संस्कृति के निर्माण में विज्ञापनों की भूमिका को रेखांकित कीजिए।
2. 'पापुलर कल्चर' (जन संस्कृति) के विकास में विज्ञापनों के योगदान का विवेचन कीजिए।
3. प्रिंट मीडिया और इलैक्ट्रॉनिक मीडिया में विज्ञापन-संस्कृति का मूल्यांकन कीजिए।

(iv) वैश्वीकरण और संस्कृति

डॉ. विभास वर्मा
रीडर, हिन्दी-विभाग
देशबंधु कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

वैश्वीकरण का शाब्दिक और सामान्य अर्थ है—स्थानीय या क्षेत्रीय वस्तुओं या परिघटनाओं के विश्वव्यापी हो जाने की प्रक्रिया। यह परिघटना सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक या सांस्कृतिक शक्तियों से संबंधित हो सकती है। भारतीय वाङ्मय में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की आकांक्षा दरअसल वैश्वीकरण की सांस्कृतिक आकांक्षा ही है। ऐसी आकांक्षाएँ विभिन्न संस्कृतियों में पाई जाती हैं। क्योंकि संस्कृतियाँ स्वभाव से परिवर्तनशील, मिश्रित और इसीलिए प्रसाराकांक्षी-विकासाकांक्षी होती हैं। जैसा कि हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि "संस्कृतियाँ मिश्रण से ही फैलती हैं। शुद्ध संस्कृति का नारा एक छल के अलावा कुछ नहीं है।" लेकिन आधुनिक वैश्वीकरण और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की धारणा में अन्तर है कि 'वसुधैव कुटुम्बकम्' जैसी आकांक्षाओं में एक प्रकार के सहयोग, सौहार्द और पारिवारिकता की भावना है जबकि वैश्वीकरण आधिपत्य और बाजारीकरण से संचालित परिघटना है।

सन् 1960 में कनाडाई लेखक 'मार्शल मैक्लुहान' ने विश्व को एक गाँव में बदलते जाने की अवधारणा प्रस्तुत की थी और इस 'वैश्वीकरण ग्राम' (ग्लोबल विलेज) के निर्माण का श्रेय जनसंचार के नवीनतम साधनों को दिया था।

आज वैश्वीकरण शब्द में कई आयाम जुड़ गए हैं। इसे एक परिघटना और प्रक्रिया दोनों तरह से समझा जाता है। इसके प्रमुख आयाम हैं—आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक।

आर्थिक—इसके तहत विश्व-स्तरीय वित्तीय संस्थाओं का उदय और प्रसार है। आज वैश्वीकरण को जिस अर्थ में ग्रहण किया जाता है वह मुख्य रूप से आर्थिक प्रक्रिया या परिघटना है। यह गैटब (जनरल एग्रीमेंट ऑन टैरिफ एंड ट्रेड्स) तथा डब्ल्यू टी.ओ., वर्ल्ड बैंक और आई.एम.एफ. जैसी संस्थाओं के जरिए चलाई गई प्रक्रिया है। जिसमें एक विश्व-अर्थव्यवस्था को अनिवार्य-तौर पर जुड़ना होगा। इस विश्व-अर्थतंत्र ने एक विश्व-बाजार का निर्माण किया है जिसमें पूँजी का मुक्त प्रवाह संभव हुआ है।

राजनैतिक क्षेत्र में इसका अर्थ वैश्विक संस्थाओं द्वारा राष्ट्र-राज्य पर लगाए गए अंकुश से संबंधित है। नागरिक, मूल-स्थानीयों की समस्या, पर्यावरणीय मुद्दे, आप्रवासन और अंतर-नस्लीय और जातीयता संबंधी तनाव तथा मानव व नागरिक अधिकार के क्षेत्र में ये अंकुश दिखते हैं।

सांस्कृतिक प्रक्रिया के रूप में वैश्वीकरण एक भूमंडलीकरण सांस्कृतिक व्यवस्था के उद्भव की ओर इंगित करता है। इसके कई घटक हैं—उपग्रह संबंधी जन-संचार उपकरणों के द्वारा एक शैली की सूचना व्यवस्था का निर्माण, वितरण, उपभोक्ता होना एक वैश्विक सर्वदेशीय जीवन शैली (कॉस्मोपॉलिटनिज़्म) की स्वीकृति, खेल और संस्कृति संबंधी वैश्विक घटनाओं का आयोजन—जैसे कि ओलम्पिक या मिस यूनिवर्स आदि। पर्यावरण, मानवाधिकार और स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं के लिए विश्वस्तरीय प्रयास आदि। कुल मिलाकर इन सबको गठित करने में संचार-क्रान्ति का बहुत बड़ा हाथ है। उपग्रहीय संचार और कंप्यूटर के नेटवर्क के बगैर यह सब कुछ अकल्पनीय था।

इस संचार-क्रान्ति ने एक सूचना-समाज की रचना की है जिसमें सूचनाओं की बाढ़-सी आ गई है। इस कारण विभिन्न स्थानीय और छोटे तथा पिछड़े क्षेत्र की सांस्कृतिक और अन्यान्य गतिविधियाँ सूचना के स्तर पर उपलब्ध हो रही हैं। इससे देश-काल की सीमाएँ तोड़कर विभिन्न धार्मिक, क्षेत्रीय व सांस्कृतिक अस्मिताओं को एक व्यापक पहचान

मिली है। छोटे संप्रदाय और समुदाय और उनकी सांस्कृतिक गतिविधियाँ अपने देश-काल से मुक्त हो रही हैं। नतीजतन 'गरबा' या 'भांगड़ा' जैसे सांस्कृतिक कर्म गुजरात या पंजाब की सीमा से बाहर अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रचलित होते दिखाई देते हैं। भारत में मैक्सिकन, थाई, ईरानी, लेबनान के भोजन उपलब्ध होते हैं तो दक्षिण भारतीय या मुगलई व्यंजन यूरोप व अमरीका में।

इस प्रकार एक बहुसांस्कृतिकता परिचलित हो रही है। इस बहुसांस्कृतिकता से जहाँ एक ओर लोगों में दूसरी संस्कृति के प्रति समझ, सहयोग और स्वीकार्यता का भाव बढ़ा है वहीं कुछ द्वंद्व और घर्षण की स्थिति भी उत्पन्न होती है। यह बहुसांस्कृतिकता कुछ जगह ऐसी जीवन शैली को जन्म देती है जिसमें विभिन्न संस्कृतियाँ साथ-साथ रहती तो हैं पर उनमें परस्पर संवाद नहीं होता। साथ ही अपनी जड़ों से कटे होने के कारण ये सांस्कृतिक क्रिया-कलाप जीवन-शैली से पूरी तरह जुड़े नहीं होते। इस कारण ये सांस्कृतिक कर्म नहीं बल्कि आर्थिक उत्पादों की तरह बरते जाते हैं। फ्रेडेरिक जेमसन ने जिस उत्तर-आधुनिकता में पण्यीकृत (बाजारवाद की) संस्कृति की चर्चा की है वह यही है जिसमें सांस्कृतिक क्रिया-कलापों का पण्यीकरण (खरीदा-बेचा जा सकना) हो गया है। साथ ही, अपनी जड़ों से कटने के कारण एक पेस्टीश (Pastiche) नकल या खिचड़ीपन की तरह यह संस्कृति बनती है। लेकिन इस प्रक्रिया में काफी सांस्कृतिक रूपों में एक किस्म की सक्रियता भी बढ़ती है। संचार माध्यमों की इस क्रांति ने संस्कृति के दृश्य रूप को विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण बना दिया है। संस्कृति के वे रूप जो चाक्षुक महत्ता के लिए महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं और सांस्कृतिक महत्त्व खोते जाते हैं। इस कारण संगीत, नृत्य नाटक, वेशभूषा जैसे सांस्कृतिक रूप अपने मूल्यों से कटकर सिर्फ अपने दृश्यात्मक महत्त्व के लिए टेलीविजन या सिनेमा में प्रदर्शित होते हैं।

इस प्रकार वैश्वीकरण में सांस्कृतिक सृजनशीलता की गुंजाइश कम होती है। पहले जो विभिन्न संस्कृतियों में विनिमय होता था उसमें सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ या रूप धीरे-धीरे सांस्कृतिक अनुकूलन की प्रक्रिया से गुजरते थे और विभिन्न समाजों-समुदायों की आवश्यकता के अनुसार उनमें समरस हो जाते थे। यह प्रक्रिया अक्सर सृजनात्मक परिणाम देती थी।

मसलन 'उपन्यास' के सांस्कृतिक रूप ने भारत और चीन या जापान के अलग-अलग समाजों के अनुसार अपने को ढाला और भारत, चीन और जापान आदि देशों की स्थानीय संस्कृति में अपनी जगह बनाई। इस प्रकार लैटिन अमेरिकी उपन्यास ने अपना रूप बदला। यही हाल सिनेमा का है—ईरानी, चीनी, जापानी, या भारतीय सिनेमा की अपनी पहचान है जो उनकी अपनी संस्कृतियों के अनुकूलन से बनी है। भारतीय फिल्मों में गानों की एक विशेष जगह होती है जो सिनेमाई कथानक का अनिवार्य हिस्सा होते हैं। लेकिन इस वैश्वीकरण में यह अनुकूलन नहीं के बराबर होता है। 'कोका कोला' या 'गूची' के उत्पाद सभी जगह एक ही प्रकार के होते हैं। ये स्थानीय जरूरतों के अनुसार अनुकूलित नहीं होते। एक तरफ ये उत्पाद अपने-अपने को स्थानीय जरूरतों के अनुसार नहीं ढालते दूसरी तरफ इसी तरह के स्थानीय उत्पादों को अपनी आर्थिक ताकत के बलपर अपदस्थ करते हैं। जैसा कि सॉफ्ट ड्रिंक स्थानीय पेयों को तथा परफ्यूम इत्र-गंध के उत्पादों को करता जाता है। यह एक तरह के सांस्कृतिक साम्राज्यवाद को भी प्रेरित करता है। इसका एक उदाहरण पॉप या पॉपुलर संगीत है जो कि अन्य तमाम संगीत रूपों को प्रभावित कर रहा है। फ्यूजन संगीत के नाम पर होने वाले अनुकूलन स्थानीय संगीत-विधायों में होकर उन्हें पॉप संगीत का अंग बनाते हैं। कुछ रूप अवश्य ऐसे हैं जिसमें भारतीय सांस्कृतिक उत्पाद यह शक्तिमत्ता हासिल करते हैं पर वे भी दूसरे स्थानीय रूपों को अपदस्थ अवश्य करते हैं।

वैश्वीकरण के तहत इंटरनेट और उपग्रहीय संचार ने एक 'सांस्कृतिक क्षेत्र' का भी निर्माण किया है। यह क्षेत्र या स्पेस साइबर स्पेस है जो कि एक प्रकार का आभासीय क्षेत्र (वर्चुअल स्पेस) है इसके नागरिक सिटिजन न होकर नेटिजन कहलाते हैं अर्थात् किसी भी भौगोलिक स्थान से परे एक आभासीय क्षेत्र के निवासी हैं, समुदाय हैं। अक्सर इन समुदायों की कोई नैतिक बाध्यता नहीं होती। ये समुदाय एक बार ऑरकुट पर पाये जाने वाले घृणा-समुदाय (हेट-ग्रुप्स) जैसे भी होते हैं तो दूसरी ओर अनेक सामाजिक-राजनैतिक, सांस्कृतिक सरोकारों से जुड़े समूह भी होते हैं। यह साइबर कई बार वास्तविक स्पेसों को निकट लाने का काम भी करते हैं। **इंटरनेट के जरिए शादियाँ और**

तलाक के किस्से सुनने में आते हैं। कुछ साइबर समुदाय संस्कृतियों के संरक्षण का भी जिम्मा उठाते हैं। गीतों, नृत्यों, भाषणों, फिल्मों, नाटकों को इंटरनेट पर विभिन्न लोग संरक्षित भी करते हैं। दूसरी तरफ ब्लॉगिंग और यू-ट्यूब जैसे नये रचना रूप भी निकले हैं। जिसने बहुत तेजी से रचनाशीलता को सक्रिय किया है।

मौजूदा वैश्वीकरण और संस्कृति के संबंध इस प्रकार जटिल और नित परिवर्तनशील हैं। इसके धनात्मक पक्ष (Positive aspects) का मुख्य कारण मौजूदा वैश्वीकरण की आर्थिक परिस्थिति है जिसे पूंजीवाद का विलंबित चरण या वृद्ध पूंजीवाद (late capitalism) भी कहा जाता है। यह आर्थिक असमानता को वृहत स्तर पर बढ़ाता है जिसका परिणाम संस्कृति का पण्यीकरण और उपभोक्तावाद है। संचार के साधनों पर पूंजीवाद का वर्चस्व सांस्कृतिक संचार को अपने हित के लिए इस्तेमाल करता है अन्यथा संचार की यह क्रांति अपनी प्रकृति में लोकतांत्रिक है इसीलिए इस वैश्वीकरण का विरोध करने वाली शक्तियाँ भी इस संचार प्रक्रिया का उपयोग करती हैं। वैश्वीकरण के माध्यम से सांस्कृतिक एकरूपता बनाने की मुहिम भी इसी कारण विफल हो जाती है।

वैश्वीकरण और संस्कृति के संबंध में कई ऐसे इलाके हैं जहाँ तनाव और विवाद बने हुए हैं जैसे कि वैश्वीकरण एकरूपी वैश्विक संस्कृति का निर्माण करता है या सांस्कृतिक विविधता या बहुलता को बढ़ावा देता है। उसी प्रकार वैश्वीकरण अस्मिताओं को उभारता है या अस्मिताओं को विखंडित करके उनमें मिश्रण की योग्यता बढ़ाता है। वैश्वीकरण में संस्कृति इन कारणों से एक संकर मिश्रण (हाइब्रीड) रूप में बनती है जिसे ग्लोबल और लोकल के मिश्रण करके ग्लोकलाइजेशन कहा जाता है। इसे मैकडोनल्ड की दुकानों में मिलते मैक् समोसा जैसे उत्पादों से पहचाना जाता है। मैकडॉनल्डाइजेशन की प्रक्रिया इस प्रकार ग्लोबल न होकर ग्लोकल हो जाती है।

सहायक ग्रंथ

1. भारत का भूमंडलीकरण—सम्पादक अभय कुमार दुबे
2. संस्कृति और व्यावसायिकता—सम्पादक रमेश उपाध्याय